* ॐ हरिः *

प्रकाशकका वक्तव्य

कोटिशः धन्यवाद उस जगन्नियन्ता जगदाधार परब्रह्म परमेश्वरको है, जिसने संसारी अज्ञजनोंके कल्याणार्थ श्री १०८ श्री महर्षि रामजन्मजी ब्रह्मचारी द्वारा इस आत्म प्रकाश नामक अमूल्य ग्रन्थका आविर्भाव कराया। ब्रह्मचारीजीका परिचय उक्त पुस्तक द्वारा पाठक वृन्द भली भांति पा सकते हैं अतः उनके विषयमें विशेष कहना मुझे निष्प्रयोजन सा प्रतीत होता है। इस पुस्तकको लिख कर आपने सर्व साधारणका कितना उपकार किया है, इसका निर्णय मैं सहृदय पाठकों परही छोड़ना उचित समझता हूं।

मुझे उक्त पुस्तकको प्रकाशित करनेके लिये आज्ञा देकर जो आप विशेष कृपा दरशाये हैं, उसे मैं अपनेको कृतार्थ समझता हूं। सात्विक विचारवानोंको यदि कुछ भी इससे सहायता मिली तो मैं अपना अहोभाग्य समझूंगा।

शीघ्रता तथा असावधानता वश जो प्रेसकी अशुद्धियां हो गयी हैं उसके लिये यद्यपि शुद्धाशुद्धकी सूची पुस्तकके प्रारम्भमें दे दी गयी हैं तथापि और भी अशुद्धियोंका होना संभव है। अतः पाठकोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि इसका विचार न कर मूल विषय पर ही ध्यान देंगे।

पता—
ग्राम बुलापुर
पोस्ट मझौवां
जिला बलिया

विनीतः—
गया प्रसाद मिश्र

ॐ तत्सत्

अथ

आत्म प्रकाश

लेखक—

श्री १०८ महर्षि रामजन्मजी ब्रह्मचारी

जिसको प्रान्त बलिया ग्राम बुलापुर निवासी

श्रीमान पं० गया प्रसादजी मिश्र ने

मुमुक्षु जनोंके कल्याणार्थ प्रकाशित किया।

प्रथम वार २००० | सम्वत् १९९१
सन् १९३४ ई० | मूल्य—
आत्मोद्धार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२५	होती	होती है
११	१८	दाहन नहीं	दाहन ही
,,	२६	एकान्त	एकाग्र
१४	१	है	हैं
१४	५	अत तरंग	अंत रंग
१४	६	यज्ञाजिक	यज्ञादिक
१५	८	समो	सभी
१७	१०	तपद्	तत्पद्
२१	२	शिव्य	शिव
२१	७	अपनी समझकी कमीसे तुझे यह विरोध सा क्यों लिखेंगे	
२२	१८	मिवृत्ति	निवृत्ति
२२	१६	असभावना	असम्भावना
२५	२१	तत्व मसे	तत्वमसि
२६	१२	ईश्वप	ईश्वर
२७	१५	,काश	काशी
२७	२१	म्रथम	प्रथम
२७	२८	चेतनका	चेतनको
२८	१४	प्राप्त है	प्राप्त होता है
३०	२	मतलत	मतलब
३०	१२	प्रहानि	प्रज्ञान
३१	४	नाम	अनेक नाम
३५	२४	जै	जो
,,	,,	वाच	बीच
३८	२५	मुम्राशय	मुत्राशय
४१	८	प्रकार	बराबर
४४	२	विज्ञान	तत्र विज्ञान
४६	२	याग	योग

४६	२६	ध्द्वाण	घ्राण
५१	२	सुपुति	सुषुक्ति
५१	२४	संकार	संस्कार
५२	१२	वियेे	विषे
२	१४	होता	होता है
५२	२८	सुअम्	सुक्ष्म
५५	८	लषि	लगि
५६	१६	आकारआ	आकारका
५६	२१	प्रनि	प्रति
६२	१२	क्षक	एक
६४	१६	व्रम	व्रह्म
६४	१८	घृत्ति	वृत्ति
६५	४	लाता	जलाता
६६	४	प्रह्माण्ड	व्रह्माण्ड
७०	१५	ऐश्ववं	ऐश्वर्य
७२	११	धुमिकाएं	भूमिकाएं
८१	१८	जीतों	जीवों
८५	१६	गहे	कहे
८६	२८	नानातत्व	नानात्व
८७	३	व्रअ	व्रह्म
८८	२१	वोता	होता
८६	२१	उपस्थमें	उपस्थसे
८६	२३	वासता	वासना
६०	१८	वार	वार-वार
६१	१४	गिवासे	निवासे
६४	१४	सन्तो	सन्तोंके
६४	१६	प्राब्ध	प्रारब्ध
६४	२५	जम	जन्म
६४	२५	पास	पाप
६६	५	पालाचीनी	पीशाचिनि
१०२	२८	कियेके	के किये
१०४	२६	मरमानन्द	परमानन्द

निवेदन

प्रिय सज्जनवृन्द ! विद्या तथा बुद्धि हीन मुझमें ऐसी शक्ति नहीं है कि भगवद्गुणानुवाद, सत्योपदेश अथवा कोई अन्य ही विषय लिख कर आप लोगोंको समर्पण करूं। परन्तु "प्रकृतिं यान्ति भूतानि" सम्पूर्ण प्राणी अपनी प्रकृति अनुसार ही चेष्टा करते हैं। इस उक्तिके अनुसार मुझे भी अपने मन्तव्य विषयको अपने टूटे-फूटे शब्दोंमें लिख-लिखकर मनन करनेकी प्रकृति सी पड़ गयी है। जिसे देखकर साधारण जन पसन्द करते हैं और छपानेकी अभिलाषा प्रकट करने लगते हैं। इसी आधार पर 'वलिया मंडलान्तर्गत' बुलापुर निवासी पण्डित गया प्रसाद मिश्र जी मेरी लिखी हुई एकाध पुस्तकें द्रव्य व्यय द्वारा छपवा कर ज्ञान तथा भक्तिके प्रचारार्थ सर्व साधारण जनोंको मुफ्तमें समर्पण करके पूर्व भी पुण्य तथा कीर्तिका भाजन बन चुके हैं। अतः मैं मिश्रजीको कोटिशः धन्यवाद देता हूं और हृदयसे चाहता हूं कि बुद्धि ऐसे ही धर्म परायण बनी रहे। इस "आत्म प्रकाश" नामक ग्रन्थको लिखते हुए देखकर मिश्रजीने कहा कि इस पुस्तकको भी छपाकर प्रकाशित करनेकी मेरीअभिलाषा है। क्योंकि कठिन वेदांत सिद्धांतको इस ग्रन्थमें आप प्रश्नोत्तर रूपसे सरल कर दिये हैं, इससे सर्व साधारणका बड़ा उपकार होगा। इस विषयमें और लोगोंकी भी रुचि देखकर मिश्रजीके इस वचनको मैंने सहर्ष स्वीकार किया और ग्रन्थ तैयार हो जाने पर छपानेके लिये मिश्रजीको प्रदान कर दिया। मुमुक्षु पाठक गण, इस ग्रन्थको काव्यकी दृष्टिसे न देख कर केवल सिद्धान्तको ग्रहण करके मेरी परिश्रमको चरितार्थ करें। शुभम्॥

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति

विनीत—

ब्रह्मर्षि रामजन्मजी ब्रह्मचारी

॥ ॐ तत्सत् ॥

श्री १०८ ब्रह्मर्षि रामजन्म जी ब्रह्मचारी

ॐ श्री गणपतये नमः

अथ मंगला चरण

❀ दोहा ❀

गणपति मय शिव रूप मय, गुरु मय आदि अनेक।
रूप नाम मय ह्वै रहा, अस्ति भाति प्रिय एक ॥१॥
इक्षु धतूरा नीम अरु, विल्व माहि जल एक।
मधुर गरल तिक्तादि गुण, होत कषाय अनेक ॥२॥
बाहिर भीतर एक सम, घट मठादिमें व्योम।
रंचक छति मेरो नहीं, हेतु कार्य ते लोम ॥३॥
आनन्द घन मम रूपते, व्यापि रहा संसार।
मम समुद्र ते बीचि सब, उपजहिं भूत अपार ॥४॥
आप आप महँ कथि रहा, आप आप महं सृष्टि।
आप आप महँ रमि रहा, आप आप महँ दृष्टि ॥५॥

विषय सूची

प्रिय वाचक वृन्द ! अनुबंधके बिना ग्रन्थके तात्पर्य्यको शीघ्र समझ लेना कठिन है। वेदान्तके ग्रन्थ जो भाषामें "विचार सागर" आदि एवं संस्कृतमें "तत्वानुसंधान" आदि हैं, उनमें भी अनुबंध पाया जाता है। अतः इस " आत्म प्रकाश" नामक ग्रंथका भी अनुबंध बता देना परमावश्यक है। अनुबंध चार हैं—अधिकारी च सम्बन्धो विषयश्च प्रयोजनम्। अवश्य मेव कर्तव्यमनुबंध चतुष्टयम्॥ अधिकारी; सम्बन्ध विषय और प्रयोजन ये चार अनुबंध ग्रन्थमें अवश्य करना चाहिये। इस नियमानुसार साधन चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षु पुरुष इस ग्रन्थका अधिकारी है, (इस ग्रन्थके दूसरे परिच्छेदमें साधन चतुष्टयका सविस्तार वर्णन किया गया है)। इस ग्रन्थमें प्रतिपाद्य प्रति पादक भाव सम्बन्ध है। जीव और ब्रह्मकी एकता इस ग्रन्थका तथा मूलाज्ञान जो कारण, और कार्य जो प्रपंच, (संसार) उसकी निवृत्ति और परमानन्द जो आत्म स्वरूप, उसकी प्राप्ति इस ग्रन्थका प्रयोजन है।

विषय		पृष्ठ
पहला परिच्छेद	एक जिज्ञासु और महात्मा	१
दूसरा परिच्छेद	साधन चतुष्टय	१३
तीसरा परिच्छेद	ब्रह्म और जीवकी एकता	२४
चौथा परिच्छेद	एक ही शुद्ध चेतनमें उपाधिसे अनेकता	३१
पांचवां परिच्छेद	शुद्ध ब्रह्म, भेद तथा परिच्छेदसे रहित है	६२
छठवां परिच्छेद	ज्ञानकी सप्त भूमिका	६८
सातवां परिच्छेद	सर्वोत्कृष्ट प्रणव उपासना।	७६
आठवां परिच्छेद	शरीर छूटनेपर प्राणियोंकी क्या दशा होती है	८५
नौवां परिच्छेद	साधकका कर्त्तव्य	९२
दसवां परिच्छेद	कुछ जानने योग्य बातें	९८

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

आत्म प्रकाश प्रारम्भ ।

पहला परिच्छेद

एक जिज्ञासु और महात्मा

जन्म-मरण रूपी दुःख करके खेदको प्राप्त हुआ तथा त्रिविध तापोंसे तपायमान कोई जिज्ञासु पुरुष परमानन्दकी प्राप्ति और कारण-कार्य रूप प्रपंचकी निवृत्ति' की जिज्ञासासे एक महात्माके पास गया। वे कैसे हैं महात्मा? उन्होंने मन और इन्द्रियोंको वश में किया है, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ट हैं, वेद शास्त्रोंके सिद्धान्तको अच्छी प्रकार जाननेवाले तथा मधुर भाषण करनेवाले हैं। जिस प्रकार धूप करके पीड़ित हुआ पथिक किसी वृक्ष तले जाता है, क्षुधातुर बालक अपनी माताके पास जाता है तथा भिक्षुक गृहस्थोंके प्रति गमन करता है। उसी प्रकार वह जिज्ञासु उस महात्माके पास गया और सामने समिधाको रखकर, सष्टांग प्रणामकर तथा मौन धारण कर स्थित हो गया। तदनन्तर जैसे गौएं अपने बछड़ोंकी तरफ देखती हैं और जैसे शरणागत भीरु प्राणी शरणदाता पुरुषकी तरफ देखता है, वैसे ही जिज्ञासुके प्रति देखकर परम दयालु महात्मा बोले—हे वत्स तुम्हारा कल्याण हो; कहो कुशल तो है? तुम्हारा आगमन किस निमित्त हुआ है। तदनन्तर जैसे मयूर मेघ गर्जना श्रवण करके प्रसन्न होता है, उसी प्रकार जिज्ञासु महात्माकी वाणी को श्रवणकर प्रसन्न हो गया और इस प्रकार बोला—

दोहा

प्रियानन्द अरु श्रेय क्या, कहिये गुरुवर आप।
मैं शरणागत आपका, तुम बिनु मां नहीं बाप॥

अर्थ—हे गुरुवर! मैं आपकी शरणमें हूं, आपके समान (कल्याण करनेवाला) माता तथा पिता भी नहीं हैं, अतः आप यह कहें कि प्रिय आनन्द तथा कल्याण वस्तु क्या है?

भावार्थ—इस संसारमें गुरु अनेक प्रकारके हैं, कोई विद्या गुरु, कोई अस्त्र-शस्त्र गुरु, कोई संगीत गुरु, कोई पिंगल शास्त्रके गुरु, कोई ज्योतिष गुरु, इत्यादि। जैसे दत्तात्रय भगवानके चौबीस गुरु थे। परन्तु ये सब व्यावहारिक गुरु होनेसे श्रेष्ठ नहीं हैं। प्रवृत्ति मार्गमें प्रवृत कराकर जन्म मरण रूपी दुःखको प्राप्त करानेवाले हैं और इनमें गुरु शब्दका अर्थ भी गौड़ रूपसे ही घटता है, क्योंकि 'गु' कहिये अन्धकार और 'रू' कहिये प्रकाश अन्धकारको प्रकाश करे अर्थात् अन्तःकरणाकरणमें जो अविद्या रूपी अंधकार आत्माको आवरण करनेवाला है, उसे वेद शास्त्रके वाक्यों तथा अनेक युक्तियां द्वारा निवृत्त करके प्रकाश स्वरूप जो आत्मा उसको लखावे। वह व्यावहारिक गुरुओंमें घटता नहीं, किन्तु यत्किंचित् शास्त्रका प्रकाश व्यवहार विषे करते हैं, अतः गौड़ रूपसे गुरु कहा गया। पूर्वोक्त प्रकारसे श्रेष्ठ गुरुपना तो आप ही में घटता है, इस लिए गुरुवर (श्रेष्ठ) कहा। एवं माता पिता भी आप ही हैं क्योंकि माता पिता का धर्म है, पुत्रका धारण पोषण करना तथा दुःखोंसे रक्षा करना। सो तो इनमें घटता नहीं, उल्टा इन लोगोंने मुझे गर्भमें स्थापनकर नव मास तक अत्यन्त कष्टका अनुभव कराया। हे भगवन्! वहां गर्भमें जेरसे बंधा हुआ नीचे शीश और ऊपर पैर करके लटका हुआ, जैसे कुलालके आवांमें मृतिका पात्र जलते हैं वैसे मैं जलता रहा। और माता उदर विषे जो दुर्गंध युक्त मल-मूत्रकी थैली है, सो मेरे मुखके ही समीप थी, उस दुर्गंध करके मैं अति दुःखित हुआ तथा उस थैलीका किंचित रस भी मेरे मुखमें आता था इससे भी मैं

अत्यन्त क्लेशित हुआ। बहुत क्या कहूं, मैंने साक्षात् कुम्भीपाक नामक नरकका अनुभव किया। पुनः जन्म लेनेपर क्षुधा पिपासा करके मैं दुःखित होता था और रोता था। बोलनेमें असमर्थ होनेके कारण मैं हृदयका भाव प्रगट नहीं कर सकता था। माताने मेरे हृदयका भाव न जानकर मेरी प्रसन्नता निमित्त दूसरे अनेक उपाय करती थी, जिससे मैं और भी अधिक दुःखका अनुभव करता था। माता करके मैंने किंचित सुख भी नहीं पाया। तदन्तर पिताने स्वार्थ वश विद्या प्राप्तिके लिये मुझे पाठशालामें बिठाया। वहां मैं आचार्यसे सर्वदा भयभीत रहा करता था, जैसे नारकी यमराजासे भयको प्राप्त होता है। जैसे-तैसे कुछ विद्या भी पढ़ा, इसके बाद पिताने विवाह कर स्त्री रूपी पिशाचिनीकी प्राप्ति करायी, जिसके संगसे बल, बुद्धि, कांति और तेज सब नष्ट हो गये। लोक तथा परलोकके योग्य भी मैं न रह गया। क्योंकि विषयासक्त होकर परलोक साधन यज्ञादिक शुभ कर्म मैंने किये नहीं, और विषय सेवन से बल बुद्धिसे रहित होकर रोगी हो गया, जिससे सांसारिक सुख भी मैं भोग नहीं सकता। अतः हे भगवन्! पिता भी दुःखका ही हेतु है। अस्तु आप जिस शक्तिसे कान्तिमान् हृष्ट पुष्ट तथा सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते हैं, उसी शक्तिको प्रदानकर सर्वदाके लिये अपने ही समान सुखी करनेमें समर्थ हैं। अतः आप माता पितासे भी श्रेष्ठ हैं। पूर्वोक्त दोहेके द्वितीय पद और चतुर्थ पदका भाव समाप्त हुआ। अब प्रथम पद तथा तृतीय पदका भाव वर्णन करते हैं।

हे भगवन् मैं आपकी शरणमें हूं, मुझ शरणागत पर कृपा करके आप यह कहें कि प्रिय, आनन्द और श्रेय कहिये कल्याण-स्वरूप क्या वस्तु है। भाव यह कि जो वस्तु प्रिय, आनन्द तथा कल्याण स्वरूप न हो, उसकी प्राप्तिसे न तो प्राणी प्रिय हो सकता है, न उसको आनन्द प्राप्त हो सकता है, और न उसका कल्याण ही हो सकता है। तात्पर्य—हे भगवन्! मैंने प्रिय, आनन्द तथा कल्याणकी प्राप्तिके लिये इस संसारमें क्या क्या उपाय नहीं किया? परन्तु वे सभी निष्फल हो गये। मैंने बड़ा परिश्रमसे विद्याध्ययन तथा धनोपार्ज-

किया, जैसे मधुमक्खियां पुष्पोंके रसोंको चूस-चूसकर एकत्र करती हैं, उसमें से खाती भी नहीं, वैसे ही मैंने पेट काट—काटकर कृपणता-पूर्वक धनको एकत्र किया कि मुझे भविष्यमें सुख होगा। परन्तु उलटा अग्नि, चौर, राजादिकों करके नाश हुआ, वह धन मेरे लिये दुःखका ही हेतु हुआ। नितिज्ञ पुरुषोंने सत्य कहा है कि धनकी गति तीन प्रकारकी होती है। दान, भोग और नाश। दान करने से परलोक बनता है, भोजन वस्त्रादि भोगमें लगानेसे स्वार्थ और इन दोनोंके अभावसे धनका अवश्य नाश हो जाता है। क्योंकि लक्ष्मीका नाम ही चंचला है। और हे भगवन्! पुत्रकी अप्राप्तिमें, प्राप्त होनेकी तृष्णा रूपी कष्ट था। और प्राप्त होनेपर पालन पोषण तथा उसके रोगादिकोंसे सदा दुःखी रहा, तथा उसकी मृत्यु होनेपर छाती पीट-पीट कर मैंने शोक मनाया। कदाचित् पुत्र जीवित भी रहा, तो इदानी काल वृद्धावस्थामें धनोपार्जनकी शक्ति न रहनेपर पानी पीने तक नहीं पूछता; दूसरा सेवा कहां तक करेगा! वचन रूपी शस्त्र करके, बारम्बार प्रहार करता है, जिससे छाती और भी जली जाती है। अतः पुत्र भी अनर्थका ही हेतु है। हे प्रभो! पुन-र्जन्मके हेतु होनेसे यज्ञादिक कर्म भी दुःख हैं तथा स्वर्गादिक लोक भी विनाशी होनेके कारण अकल्याण ही करनेवाले हैं तथा पुण्यके चुक जाने पर पुनः मृत्यु लोकमें जन्म लेना पड़ता है; ऐसा वेद कहता है, अतः वे लोक भी प्रिय नहीं हैं। मैंने परिवारमें आसक्त होकर सुख निमित्त अनेक व्यभिचार कर्म किये, परन्तु कुछ भी हाथ न लगा। मैंने अपने वर्णाश्रमके अभिमानको छोड़कर नीच जातियोंकी सेवा की। तथा जूठन भी खाया, तथापि किंचित्मात्र भी मेरा कल्याण नहीं हुआ। मैंने शरीर ही को सुख हेतु समझकर षट रसादि पदार्थों द्वारा तथा अनेक प्रकारके आभरण–भूषणादि द्वारा लाड़-प्यार किया, सो भी व्यर्थ ही हो गया। क्योंकि इस शरीर ही द्वारा मैं अनेक प्रकारके रोगोंका अनुभव कर रहा हूं। तथा इस शरीर ही के अभिमान करके मैं अनेक दुराचार कर्ममें तत्पर हुआ। अन्तमें बुढ़ापा आनेपर वह रूप भी जाता रहा। इस शरीर ही के बल करके

मैंने अनेक जीवोंको सताया, जिसका फल दुःखके सिवा और क्या होगा? हे भगवन्! अब यह शरीर जर्जरी अवस्थाको प्राप्त होनेपर भी शोक, मोह, तृष्णा द्वारा क्लेश ही दे रहा है। मैंने प्रिय होनेके लिए कहां-कहां भ्रमण नहीं किया तथा क्या-क्या साधन नहीं किया? अर्थात् सभी कुछ किया। परन्तु मुझे सच्चा सुख न मिला। अतः मैंने आपसे पूछा कि प्रिय, आनन्द तथा कल्याण क्या है? आप इस शिष्यपर अनुग्रह करके कहें।

श्री गुरु रुवाच

दोहा

आत्मा ही प्रिय वस्तु है, श्रेय आत्म को जान।
आत्मा ही आनन्द निज, आत्मा बिनु नहीं आन ॥ १ ॥

अर्थ - हे शिष्य (अपना) आत्मा ही प्रिय वस्तु है, अपना आत्मा ही कल्याण है और अपना आत्मा ही आनन्द है। अपने आत्माको छोड़कर दूसरी वस्तु न तो प्रिय है, न श्रेय है और न आनंद ही है।

भावार्थ — हे शिष्य दोहेके प्रथम पादमें मैंने जो कहा कि आत्मा ही प्रिय है, सो सत्य तुम जानना। क्योंकि नीति-ग्रन्थोंमें भी लिखा हैं कि अपने ग्रामकी रक्षाके लिये देशका परित्याग करे, परिवार की रक्षाके लिये ग्राम त्याग करे, धनके रक्षार्थ परिवारका परित्याग करे, स्त्रीके रक्षार्थ धनका परित्याग करे और अपनी रक्षाके लिये स्त्री का भी परित्याग कर दे। क्योंकि देशसे ग्राम समीप है, ग्रामसे परिवार समीप है, परिवारसे धन समीप है, धनसे स्त्री समीप है और स्त्रीसे अपना शरीर समीप है। शंका? हे भगवन्! समीपतासे क्या मतलब है, यह हमारे समझमें नहीं आता। समाधान—हे शिष्य! अपना स्वरूप होनेसे आत्मा अत्यन्त समीप है, और समीप होनेसे अत्यन्त प्रिय है। इस लिये जो वस्तु जितना ही अधिक समीप होती वह उतना ही प्रिय होती है। लोकमें भी यह देखनेमें आता

है कि आपत्ति कालमें न्यून प्रिय पदार्थका परित्याग करके, विशेष प्रिय पदार्थकी रक्षा प्राणी करते हैं। जैसे शरीर पर किसीके प्रहार करनेपर प्राणी अपनी नासिका, नेत्रादि इन्द्रियोंकी रक्षा करके, उस आघातको स्थूल शरीर ही पर सहन कर लेते हैं। जब प्राण वियोग का समय आता है, तो प्राणी इस प्रकार इच्छा करते हैं कि मेरी आंखें फूट जायँ तथा पैरादिक इन्द्रियां भी भले ही नष्ट हो जायँ। मैं अन्धा, लंगड़ा, गूँगा, होकर जीवित रहना श्रेष्ठ मानता हूं, परन्तु प्राण न निकले। यहां शरीर और इन्द्रियोंसे समीप प्राण ही है, अतः यह प्रिय समझा गया। शंका? हे भगवन्! जो अपना आत्मा ही प्रिय है, तो स्त्री आदि पदार्थोंकी रक्षा प्राणी क्यों करते हैं? समाधान -हे शिष्य! अपना आत्म स्वरूप जो प्रिय रूप है, वह हरएक पदार्थों में सर्वत्र व्यापक है, अतः उसके सम्बन्धसे पदार्थ प्रिय लगते हैं। हे शिष्य! बहुत से विवेकी पुरुष आत्माकी रक्षाके लिये शरीरको भी त्याग देते हैं, जैसे दधीचि आदि। शंका हे भगवन्! दधीचिने तो देवताओंके कार्य निमित्त अपने शरीरको छोड़ा था, ऐसा पुराणोंमें वर्णित है, आत्माके रक्षार्थ कैसे हो सकता है? समाधान—हे शिष्य! परोपकारादि शुभ-कर्म करके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है औरअंतःकरणकी शुद्धि द्वारा अपना स्वरूप जो प्रिय रूप आत्मा है उसका साक्षात्कार होता है। हे शिष्य! आत्माका अपरोक्ष ज्ञान ही उसकी रक्षा है। और परोपकारादिक शुभ कर्मोंके न करनेसे हिंसादि पाप कर्मों द्वारा आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। उल्टा अज्ञान रूपी आवर्णकी वृद्धि होती है, अतः आत्माका असाक्षात्कार ही आत्माका नाश है। इसी लिये मैंने दधीचि इत्यादिकोंके प्रमाण दिये। सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं—हे प्रिय! आत्मा सूक्ष्माति सूक्ष्म जानने योग्य है। यही कारण है कि स्थूल पदार्थसे सूक्ष्म पदार्थ श्रेष्ठ माने जाते हैं। जैसे स्थूल शरीरसे इन्द्रियां श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे समष्टि-बुद्धि श्रेष्ठ हैं और समष्टि-बुद्धिसे मूल-प्रकृति (माया) श्रेष्ठ है, शास्त्रमें ऐसा वर्णित है। अपना आत्मा ही कल्याण है, दोहेके इस दूसरे पदका भाव वर्णन करते है। हे प्रिय! श्रीमद्भागवद्गीतामें

भगवानके प्रति अर्जुन कहता है कि—हे भगवन्! तीनों लोकोंके निष्कंटक राज्यको तथा देवताओंके स्वामीत्वको भी पाकरके मैं नहीं देखता हूं कि इन्द्रियोंको शोषण करनेवाला जो यह मेरा शोक है, सो सनिश्चय करके दूर हो। इसीलिए मैं शिष्य आपकी शरण हूं, मुझे आप श्रेयका उपदेश करें, जिससे मेरा कल्याण हो। इसके अनन्तर भगवान्ने सम्पूर्ण गीता सुनाकर आत्म तत्वका बोध कराया, जिससे अर्जुनने अठारहवां अध्यायमें स्पष्ट कह दिया कि हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया तथा संशय भी दूर हो गया। अब विचार पा करके अपने आत्म स्वरूपमें स्थित हूं। इससे साबित होता है कि श्रेय रूप आत्माकी प्राप्ति बिना त्रैलोक्य राज्य पा करके भी अर्जुनका कल्याण नहीं होता था तथा अर्जुन पण्डित भी कम न था, अतः बोध रहित विद्यामें भी कल्याण नहीं है। इसलिए हे प्रिय! आत्मा ही कल्याण स्वरूप है। इसी प्रकार 'बृहदारण्य' में कथित हैं कि नारदने सनत्कुमारसे कहा कि क्या कारण है कि संसारमें जितनी विद्याएं हैं, उनको मैंने पढ़ा, तो भी मुझे विश्राम न मिला, किन्तु शोक लगा ही रहा। तब सनत्कुमार जीने भूमास्वरूप आत्माका उपदेश करके नारदजीको कल्याणकी प्राप्ति करायी। श्रुति भी कहती है—"तरतिशोकमात्मवित्"। आत्माको जाननेवाला शोकसे परे चला जाता है, अर्थात् कल्याणको प्राप्त होता है। प्रार्थना रूपसे भी श्रुति कहती है—"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"। वह मेरा मन शिव कहिये कल्याण स्वरूप आत्माका सङ्कल्प करनेवाला हो। अब तीसरे पदका भाव दरशाते हैं। हे प्रिय! अपना आत्मा ही आनन्द स्वरूप है. यदि सांसारिक पदार्थोंमें आनन्द होता, तो स्वप्नावस्थामें तो जाग्रत अवस्थाका कोई पदार्थ नहीं रहता, तो भी प्राणी अनेक प्रकारके सुखोंका अनुभव करते है, सो नहीं होना चाहिये। शंका? हे भगवन्! स्वप्नावस्थामें तो अनेक प्रकारके पदार्थ दिखायी देते हैं। जैसे सूर्योदय हो रहा है, मैं समुद्रमें स्नानकर रहा हूं, मैं पुष्पों करके सज्जित शय्यापर शयन कर रहा हूं, मैं चार प्रकारका भोजन कर रहा हूं। भक्ष्य, भोज्य; लेह्य और चोष्य, ये चार प्रकारके अन्न होते हैं,

इनमें जो दांतों तले चबा-चबाकर खाया जाय, उसे भक्ष्य कहते हैं, जैसे रोटी, चर्वण आदि। जो दांतोंसे न कुचलकर, केवल पीया जाय, उसे भोज्य कहते हैं, जैसे जल, दूध इत्यादि। जो केवल जीभ से चाटा जाय, उसे लेह्य कहते हैं, •जैसे चटनी, चलेह इत्यादि। और जो चूस-चूसकर खाया जाय, उसे चोष्य कहते हैं, जैसे आम, ईख, अँचार इत्यादि। सो सब कुछ आनन्द स्वप्नमें अनुभव होता है। कभी सुन्दर-सुन्दर तेज घोड़ों करके जुड़े हुए खूब अच्छे रथमें बैठ करके गमन करना, कभी सुन्दर बागमें त्रिविध पवनका आनन्द लेना, इत्यादि अनेक प्रकारके आनन्द एवं उनके आधार जो पदार्थ हैं, सो दिखायी देते हैं, तब कैसे माना जाय कि स्वप्नमें कोई पदार्थ नहीं रहते। समाधान—हे तात! स्वप्न अवस्थामें जाग्रत अवस्थाका एक भी पदार्थ नहीं रहता, किन्तु दूसरा ही त्रिपुटी उत्पन्न होती है। इन्द्रियां, इन्द्रियोंके देवता और इन्द्रियोंके विषय, ये तीनों मिलकर त्रिपुटी होती है। श्रुतिमें स्वप्नावस्थामें पदार्थोंकी उत्पत्ति कही गयी है, यथा— न तत्र रथा न रथ योगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथ योगान्पन्थः सृज्यते। तथा व्यास सूत्रमें भी कहा गया है—संध्येसृष्टिराहहि। शंका? हे कृपालो! स्वप्नावस्थामें जाग्रत अवस्थाके पदार्थ भले ही मत हों, तो भी स्वप्नावस्थाके उत्पन्न हुए पदार्थोंसे हो स्वप्न अवस्था में आनन्द प्राप्त होता है? समाधान—नहीं, हे तात! जो पदार्थों करके ही सुख होता, तो सुषुप्ति अवस्थामें सुख नहीं होना चाहिये, क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें सूक्ष्म और स्थूल सभी पदार्थ चेतनके आश्रय अविद्या अंशमें लय हो जाते हैं। न मनादिक चार अंतःकरण रहते, न वाकादिक पंच कर्मेंद्रियां रहतीं और न श्रोत्रादिक पंचज्ञानेन्द्रियां रहती हैं। केवल स्थूल शरीरके रक्षार्थ प्राण ही जागृत रहता है। उस समय यह आत्मा किञ्चित् दुःखका अनुभव नहीं करता, किन्तु अपने आनन्द स्वरूपका स्वयं अनुभव करता है। हे शिष्य! सुषुप्ति अवस्थासे उठकर प्राणी कहते हैं कि मैं अति आनन्दमें रहा, किसी पदार्थका मान न रहा। यह नहीं कहते कि मुझे अमुक पदार्थ द्वारा सुख मिला। इससे हे शिष्य! अपना आत्मा ही आनन्द स्वरूप है।

सद्ग्रन्थोंमें भी लिखा है कि—रूप, युवावस्था, पूर्णायु तथा चतुरङ्गिणी सेना करके युक्त जो चक्रवर्ती राजा है, उससे शत गुण आनन्द मनुष्य गन्धर्वका है, जो मनुष्य यज्ञादिक शुभ कर्म द्वारा गन्धर्व हुए हैं, वे मनुष्य गन्धर्व कहलाते हैं। मनुष्य गन्धर्वसे शतगुणा आनन्द देव गन्धर्वका है, देव गन्धर्वसे शतगुण आनन्द पितरका है, पितरसे शतगुणा आनन्द अजान देवका है, जो स्मार्त कर्म करके देवता हुए हैं, वे अजान देव कहलाते हैं। अजान देवसे शतगुण आनन्द कर्म देवक हैं; जो श्रौत्र कर्म करके देवता हुए हैं, वे कर्म देव कहलाते हैं। कर्म देवसे शतगुणा आनन्द वसुरुद्रादिकों का है। वसुरुद्रादिकोंसे शतगुणा आनन्द इन्द्र देवका है। इन्द्रसे शतगुणा आनन्द बृहस्पति का है। बृहस्पतिसे शतगुणा आनन्द प्रजापतिका है; जिसे विराट भी कहते हैं। और प्रजापतिसे शतगुणा आनन्द ब्रह्मा का है। ये सब आनन्द मिल कर ब्रह्मानन्द (आत्मानन्द) समुद्रके एक विन्दुमात्र है। क्योंकि आत्म स्वरूप रूपी आनन्द अनन्त है। हे शिष्य! यदि पदार्थ ही द्वारा आनन्दोंकी प्राप्ति हो, तो योगी जन को समाधि कालमें जो अपार आनन्दका अनुभव होता हैं, सो नहीं होना चाहिये। क्योंकि समाधि कालमें तो ब्रह्माकार वृत्ति होनेके कारण बाहरी पदार्थों का अभाव रहता है, परन्तु ऐसा होता नहीं। इससे साबित होता है कि निज आनन्द स्वरूप आत्माके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंमें आनन्द नहीं है।

शिष्य उवाच

दोहा

श्रेय प्रिय आनन्द का, विषयनमें किमि भास।
भो भगवन मोसो कहो, जाते भ्रम को नास ॥१॥

अर्थ—हे भगवान! (पूर्व आपने कहा कि श्रेय, प्रिय तथा आनन्द रूप आत्मा ही है, सो मैंने सत्य माना) परन्तु श्रेय, प्रिय तथा आनन्द को प्रतीति शब्दादिक विषयोंमें क्यों होती है। आप कृपा करके मुझसे कहें जिससे यह मेरा भ्रम नष्ट हो।

श्री गुरु रुवाच

दोहा

निज आतमके ज्ञान विनु, विषयन की करि चाह।
चंचल चितते दुःख पुनि, गहत विषय की छांह ॥१॥
विषय पाइ थिर चित्त तव, आतम बिम्ब उद्योत।
अज्ञ मनुज सुख पाइके, कहत विषय ते होत ॥२॥

अर्थ—अपने आत्माके अज्ञानसे मनुष्य विषयों की इच्छा करता है। तव विषयों की इच्छा करके—चित चंचल हो जाता है, और उस चित की चंचलता करके—दुखी होकर सुख निमित्त इच्छित विषय की छांह कहिये आश्रय लेता है। तव निज इच्छित पदार्थ को पानेसे चित्त कहिये अंतः करण स्थिर हो जाता है, उस अंतः करणमें सुख स्वरूप आत्माका बिम्ब उदय होता है। उस निज आत्मा के सुख को पा करके अज्ञानी मनुष्य कहते हैं कि मुझे विषयसे सुख मिलता है।

भावार्थ—हे प्रिय! जैसे मृग अपने नाभि गंध को भूलकर सुगंधिके लिये जंगलमें भटकता फिरता है, परन्तु यह नहीं जानता कि सुगंधि मेरे ही अन्दर से आ रही है। उल्टा वह जानता है कि यह सुगंधि घासोंमें होती है। ऐसे ही यह जीव अपने आनन्द स्वरूप आत्मा को भूलकर विषयों में आनन्द ढूंढ़ता फिरता है, यह नहीं जानता कि मेरे ही आनन्द स्वरूप को झलक इन विषयोंमें आ रही है। हे प्रिय! अंतः करण पंच तत्वोंके सतो गुणके कार्य होनेसे अत्यन्त स्वच्छ है, इसलिये सर्व व्यापी आनन्द स्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। परन्तु विषयों की कामना करके चंचल अंतः करणमें वह प्रति बिम्ब नहीं पड़ता। जैसे सूर्यका बिम्ब सर्वत्र रहता है, परन्तु मृतिका, पत्थर, वृक्षादि को में नहीं पड़ता, क्योंकि ये मलीन हैं। वह बिम्ब—दर्पण, मणि, जलादि को मेंही पड़ता है, क्योंकि ये स्वच्छ हैं। तथापि जिस समय जलमें वायु करके हिलनेसे नाना तरंगें उठती रहती हैं, उस समय बिम्ब नहीं पड़ता। वैसे ही यद्यपि अंतः करण स्वच्छ है, तथापि कामना रूपी

वायु करके चंचल होनेसे उसमें आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रति विम्ब नहीं पड़ता। अंतः करणके अतिरिक्त और सब पदार्थ तो पंच भूतोंके तमोगुणसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये मलीनता होनेके कारण उनमें आत्माका प्रति विम्ब किसी कालमें नहीं पड़ सकता। जब प्रिय पदार्थको पाकरके अंतः करण (चित्त) स्थिर हो जाता हैं, उसी कालमें आनन्द स्वरूप आत्माका प्रति विम्ब पड़ता है। जब जीवको अत्यन्त सुख प्राप्त होता है और जब फिर दूसरे पदार्थ की कामना करके चित्त चंचल हो जाता है, तब फिर आनन्दका विम्ब नहीं पड़ता, इसलिये दुःख का अनुभव करने लगता है। परन्तु अज्ञानी जीव इस भेद को जाने विना कहते हैं कि मुझे अमुक विषयमें सुख मिलता रहा, जो अब नष्ट हो गया। जैसे श्वान हड्डी को भक्षण करता है, तब उसके मुखका रुधिर निकल—निकल कर हड्डीमें लगता है और वह उसे हड्डीमेंसे निकला हुआ समझता हैं और चाट चाट कर मोद को प्राप्त होता है, वह मूढ़ यह नहीं जानता कि यह रुधिर अपने ही मुख का है। हे शिष्य! श्रेयता प्रियता तथा आनन्द यदि पदार्थोंमें होते तो सब पदार्थ सब प्राणी को श्रेय प्रिय तथा आनन्द प्रद लगने चाहिये। जैसे अग्निका स्वभाव ही उष्ण है, इसलिये किसी प्राणी को वह शीतल प्रतीत नहीं होता है। किन्तु सब को दाहन नहीं करता हैं परन्तु ऐसा देखनेमें आता नहीं, एक ही पदार्थ किसी को सुखद होनेसे प्रिय तथा श्रेयस्कर होता है, और दूसरेके लिये दुःखद होनेसे अप्रिय तथा अकल्याण कारक लगता हैं। सो भी सर्वदा ऐसा नियम नहीं रहता, जैसे एकहीं अग्नि जिसके लिये शीतकालमें सुखद होता है, उसी के उष्ण कालमें वह दुःख प्रद हो जाता है। और एक ही मनुष्य अपने अनुकूल रहनेसे अत्यन्त प्रिय रहता है, और प्रतिकूल होनेसे शीघ्र ही अप्रिय हो जाता हैं। तथा चिरकाल पर मिला हुआ अपना प्रिय मित्र जितना मिलने के समय आनन्द देता है, उतना दूसरे दिन आनन्द नहीं देता, यद्यपि वह मित्र पास ही रहता हैं। इससे सिद्ध हुआ कि श्रेयता, प्रियता तथा आनन्द किसी पदार्थमें नहीं है किन्तु अपनी इच्छित पदाथ को पाकरके चित वृत्ति एकाग्र हो जाती है, तब उसमें आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रति

बिम्ब पड़ता है , तब प्राणी सुख का अनुभव करते हैं, और पुनः दूसरे पदार्थ की कामना करके चित्त-वृत्ति चँचल हो जाती है. तब फिर प्रति बिम्ब का अभाव हो जानेके कारण दुःख होने लगता है। हे शिष्य! आत्मा आनन्द स्वरूप होनेसे प्रिय तथा श्रेय है। जब चित्त वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तो फिर चंचल नहीं होती। किन्तु सर्वदाके लिये पुरुष आनन्द मय हो जाता है। गुरु मुखसे इस प्रकार श्रवण कर के शिष्यके चित्तमें बड़ा आश्चर्य हुआ और आत्माके जाननेकी उत्कट इच्छा करता हुआ, जो कुछ पूछा, सो दूसरे परिच्छेदमें वर्णित है।

दूसरा परिच्छेद

साधन चतुष्टय

शिष्य उवाच

दोहा

आत्म प्राप्ति साधन कहे, भो कृपालु गुरु आप।
जिमि अनर्थ नासे सकल, जन्म-मृत्यु त्रय-ताप ॥१॥

अर्थ हे कृपालु गुरो! आप आत्म प्राप्तिका साधन कहें जिस प्रकार जन्म—मृत्यु और तीन ताप करके युक्त जो कार्य—कारण मय अनर्थ कहिये संसार हैं, उसकी निवृत्ति हो।

भावार्थ—हे भगवन! जिस आत्माकी प्राप्ति द्वारा प्राणी सर्वदाके लिये सुखी हो जाती है, उस आत्मा की प्राप्ति का साधन क्या है, सो मुझसे आप कहें? जिससे जन्म—मृत्यु रूपी क्लेश तथा तीन प्रकारके तापोंसे युक्त जो यह संसार है, सो निवृत्त हो जाय। अब तीन प्रकार के तापों का वर्णन करते हैं। दैहिक, दैविक और भौतिक, ये तीन प्रकार के ताप हैं। सर्दी-गर्मी करके तथा मन करके जो शरीरमें व्याधि होती है उसे दैहिक कहते हैं। और देवताओंके प्रकोपसे तथा ग्रहों करके जो क्लेश होता हैं, उसे दैविक कहते हैं। और सांप, बिच्छू अथवा भूत—प्रेतों करके जो क्लेश होता है, उसे भौतिक कहते हैं। इस प्रकार जिज्ञासु—शिष्यके मुखसे श्रवण कर परम हर्ष को प्राप्त हुआ गुरू उस जिज्ञासुके प्रति बोले।

श्री गुरुरुवाच

चौपाई

सावधान है शिष्य सुजाना, साधन सुनहु वेद परमाना ॥१॥
द्वै प्रकार सत शास्त्र बतावें, अंतरंग बहिरंग कहावें ॥२॥

अर्थ—हे सुजान कहिये चतुर शिष्य ! (आत्म प्राप्तिका सा)-धन जो वेद करके प्रमाणित है, उसे मैं कहता हूं—तुम सावधान होकर सुनो। शास्त्र दो प्रकार का साधन हैं, एक बहिरंग, दूसरा अंतरंग।

चौपाई

यज्ञादिक बहिरंग बखाना।
अंतरंग विधि आठ सुजाना ॥

अर्थ—हे चतुर शिष्य ! इनमें यज्ञादिक बाह्य कर्म बहिरंग कहलाते हैं और अंतरंग आठ प्रकारके हैं। जिसे आगे की चौपाइयोंमें वर्णन करता हूं।

चौपाई

ज्ञान विरति संपति सम आदिक।
चौथ मुमुक्ष कहैं श्रुत्यादिक ॥
श्रवन मनन निदिध्यासन सतवां।
ततत्वं का सोधन है अठवां ॥

अर्थ—ज्ञान, वैराग्य, शमादि षट् सम्पति, और चौथा मुमुक्ष कहिये मुमुक्षता है, जिसे श्रुति आदि सभी ग्रंथ कहते हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत् पद एवं त्वं पदका शोधन, ये आठप्रकारके अंतरंग साधन हैं। अब प्रत्येक साधनों का पृथक पृथक स्वरूप कहते हैं।

विवेक स्वरूप

दोहा

जग मिथ्या अरु ब्रह्म सत, जो जाने करि टेक ।
तजि प्रपंच हरि को भजे, साधन प्रथम विवेक ॥१॥

अर्थ—"सत्यंब्रह्मजगमिथ्या" इस श्रुतिके अनुसार—यह नानात्व जगत मिथ्या है और एक ब्रह्म सत्य है, इस प्रकार करि टेक कहिये निश्चय करके जाने। और तजि मिथ्या प्रपंच कहिये संसार को त्याग करके एक हरि को भजे अर्थात् ब्रह्म का चिंतन करे। उसी को पहला साधन विवेक नाम करके कहते हैं।

वैराग्य स्वरूप

दोहा

ब्रह्म लोक ते भुवन लगि, सभी विषय का त्याग ।
जानि छनिक दुःखद अति, साधन द्वितिय विराग ॥१॥

अर्थ—ब्रह्म लोकसे मृत्यु लोक पर्यन्त सभी विषयों को क्षणिक तथा दुःखप्रद समझ कर त्याग दे। यही दूसरा साधन वैराग्य नाम करके कहलाता है

शम दमादि षट्र सम्पत्ति का स्वरूप

दोहा

सम दम श्रद्धा उपरतो, समाधान तीतीच्छु ।
षट् समादि सम्पत्तिये, साधहि आनंद इच्छु ॥१॥

अर्थ—शम, दम, श्रद्धा, उपरति तितक्षा और समाधान, ये छः प्रकारकी सम्पत्ति रूप तीसरा साधन है। इसका आनन्द (ब्रह्म) की इच्छा वाले प्राणी साधन करते है। अब शमादि का पृथक पृथक स्वरूप वर्णन करता हूं।

दोहा

समं मनको आधीनता, दम इन्द्रिय नै रोध ।
श्रद्धा गुरु श्रुति वचनमें, दृढ़ विश्वास असोध ॥१॥

अर्थ—मन को कुमार्गसे रोक कर अपने वशमें रखने को शम कहते हैं। इन्द्रियों को कुमार्गसे रोकने को दम कहते हैं। गुरू और वेदान्त के वाक्यमें दृढ़ विश्वास रखने को श्रद्धा कहते हैं। अशोध कहिये विना शोधे हुए अर्थात् विना विचार किये हुए; गुरु और शास्त्रके वाक्य में संदेह न करे कि यथार्थ है वा अयथार्थ। किन्तु सर्वदा सत्य माने।

दोहा

बंध—मूल दुःखद समुझि, तजे कर्म उपराम ।
छुधा पिपासा उष्णता, शीत दुःख आराम ॥१॥
सहन शीलता द्वन्द्वयुत, धैर्य तितिच्छा जान ।
समाधान चित थिर भया, सब प्रकारसे मान ॥२॥

अर्थ—बन्धन को मूल तथा दुख प्रद समझ कर यज्ञादि कर्मों को त्याग दे; इसीको उपराम कहते हैं। भूख—प्यास, सर्दी—गर्मी दुख—सुख, इत्यादि द्वन्द्वों को धैर्य पूर्वक सहन करे अर्थात् इन्हें आगमापायी तथा अनित्य समझ कर सहन कर ले। इसी को तितिक्षा कहते हैं सब प्रकारसे विषयोंप भोगों से हट कर स्थिर चित्त का समाधान मानों। पूर्वोक्त षद्रसम्पत्ति रूप तीसरा साधन समाप्त हुआ, अब मुमुक्षुता का वर्णन करता हूं।

दोहा

कारण सहित प्रपंच को, हानि होन को इच्छु ।
कदा मोक्ष मम होयगा, कहिये ताहि मुमुच्छु ॥१॥

अर्थ—कारण जो अज्ञान, उसके सहित जो सूक्ष्म—स्थूल

प्रपंच-जगत उसका नाश (होकर परमानन्दकी प्राप्ति रूप) मेरा मोक्ष कब होगा। इस प्रकार को उत्कट अभिलाषा को (चौथा साधन) मुमुक्षुता कहते हैं। और जिस पुरुष को ऐसी जिज्ञासा हो, उसे मुमुक्षु कहते हैं। अब हे शिष्य! पूर्व जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन कह आये हैं, उनका स्पष्टी करण करते हैं। अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाला जो वेदान्त शास्त्र है, उसे गुरुमुख से सुनने को श्रवण कहते हैं। उस सुने हुए वाक्य को अपने अंतः करणमें स्थिर करने को मनन कहते हैं। उस मनन किये हुएमें वृत्ति को स्थिर करके तदाकार करने को निदिध्यासन कहते हैं। निदिध्यासन के पाराकाष्ठा में पहुंचने को समाधि कहते हैं। तत्पद जो ईश्वर और त्वं पद जो जीव, इन दोनों को भागत्याग लक्षण द्वारा एकता करने को तत्वं का शोधन कहते हैं, जो आगेके तीसरे परिच्छेदमें वर्णन करेंगे।

दोहा

पूर्व-पूर्व की सिद्धि ते, पर-पर में अधिकार।
अंतरंग साक्षात् है, श्रुति गुरु वाक्य विचार ॥१॥

अर्थ—पूर्व-पूर्व कहिये प्रथम-प्रथम के (अंतरंग) साधनोंके सिद्ध हो जाने पर, पर-पर कहिये दूसरे-दूसरे (अंतरंग) साधनोंमें (साधक का) अधिकार होता जाता है। इस रीतिसे अंतमें केवल गुरुमुखसे सुने हुए तत्वमस्यादि, महावाक्य ही साक्षात् अंतरंग साधन हैं॥

भावार्थ—वहिरंग कहते हैं दूर को और अंतरंग कहते हैं समीप को। इस रीति से यज्ञादि कर्म यद्यपि स्वर्गादि फल को प्राप्त कराने वाले हैं, तथापि निष्काम भावसे करनेसे अतः करण की शुद्धि के हेतु हो जाते हैं। इसलिये इनको भी साधन ही में समावेश कर लिया गया है। अन्य साधनों की अपेक्षा वहुत दूर हैं, इसलिये इन्हें वहिरंग कहा गया। यज्ञादिक शुभकर्मों को निष्काम भाव से करने से जब अंतःकरण शुद्ध हो जाता है, तो विवेक होता हैं। विवेकके बाद विराग होता

है, इसलिये यज्ञादिक कर्मों की अपेक्षा तो विवेक अंतरंग है और विराग की अपेक्षा वहिरंग है। विरागके बाद शम-दमादि षट्र सम्पत्ति साधन की शक्ति होती हैं, इसलिये विराग की अपेक्षा शम-दमादि षट्र सम्पत्ति अंतरंग है। इसके बाद मुमुक्षुता होती है, इसलिये शम दमादि की अपेक्षा मुमुक्षुता अंतरंग है। इसके बाद श्रवण होता हैं, इसलिये मुमुक्षुता की अपेक्षा श्रवण अंतरंग है। इसके बाद मनन होता है; इसलिये श्रवण की अपेक्षा मनन अंतरंग है। इसके बाद निदिध्यासन होता है, इसलिये मनन की अपेक्षा निदिध्यासन अंतरंग है। इसके बाद तत् त्वं पदका शोधन रूपी जो महावाक्यका विचार है, वही साक्षात् अंतरंग साधन है। हे शिष्य! इस महावाक्य के विचारसे लेकर यज्ञादि तक जितने पूर्व-पूर्व साधन हैं, उन्हें एक दूसरेके प्रति वहिरंग ही जानना शंका? हे भगवन्! जो महावाक्य का विचार ही आत्मप्राप्ति का साक्षात् साधन है, तो और साधनों से क्या मतलब है? समाधान-हे शिष्य! यद्यपि महावाक्य का विचार ही साक्षात् साधन है, तथापि अंतःकरण में कई दोषोंके कारण बुद्धि मलीन हो जाने से विचार करने की शक्ति नहीं रहती, अतः अन्य साधनों की भी आवश्यकता है। प्रश्न? हे भगवन् वे कौनसे दोष हैं? उत्तर-मल, विक्षेप और आवर्ण, ये तीन दोष हैं। मल कहिये सचित पाप कर्म, ने यज्ञादिक कर्म, स्व-वर्णाश्रम के कर्म ईश्वरके नाम का जप तथा गंगा स्नान, इत्यादिके करनेसे निवृत्त होते हैं। शंका? हे भगवान! गङ्गास्नान इत्यादि कों का फल तो स्वर्ग की प्राप्ति शास्त्र में वर्णित है। समाधान—हे शिष्य! यद्यपि गंगास्नान, यज्ञादि कर्मों का फल शास्त्रमें स्वर्ग की प्राप्ति कहा गया है, तथापि सकाम करनेसे तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है और निष्काम भावसे किये हुए, वे ही कर्म पाप की निवृत्तिके हेतु हो जाते हैं। शंका? हे भगवन्! शास्त्रमें लिखा है कि-श्लोक। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। विनाभुक्तं न क्षीयन्ते कोटि कल्पै शतैरपि॥ अर्थ॥ अपने किये हुए शुभा-शुभ कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं, विना भोगे शत करोड़ कल्प तक भी मिट नहीं सकते। तब कैसे माना जाय कि यज्ञ, ईश्वर नाम स्मरण तथा

गंगा स्नानादि निष्काम कर्मों द्वारा संचित कर्म निवृत्त हो जायेंगे ? समाधान—हे शिष्य यह वार्ता अज्ञानीके लिये है ! जिसने यज्ञादिक कर्म निष्काम पूर्वक तो किया, परन्तु श्रवणादि द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं किया । उसके लिये वे ही कर्म बंध प्रद हो जाते हैं । और जिसने यज्ञादिक कर्म निष्काम पूर्वक करके श्रवणादि द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध होकर भुने हुए बीजों के सदृश्य जमते नहीं, अर्थात् अपना फल नहीं देते । और चित्त की चंचलता को विक्षेप दोष कहते हैं, सो तो राम, कृष्ण आदिकी शास्त्र विहित उपासना करके निवृत होता है । शंका ? हे भगवन्! राम ! कृष्णादि जो एक विशेष पुरुष हो गये हैं, उनकी उपासना से चित्त स्थिर कैसे हो सकता हैं ? समाधान—हे तात ! इस समझमें तुम्हारी बड़ी भूल है, इसका कारण अज्ञान है । यदि इस विषयमें तुझे थोड़ा भी ज्ञान होता, तो तुम इस प्रकार कदापि नहीं कहते । इस विषयमें मैं कुछ दिग्दर्शन कराता हूं, तुम सावधान होकर श्रवण करो । जब इस संसार में पापी-दुष्ट-राक्षसों करके अधर्म की अत्यन्त वृद्धि हो जाती है, तथा साधु-ब्राह्मण, गो और पृथ्वी अत्यन्त क्लेशित होकर करुण स्वरसे ईश्वर की पुकार करते हैं । उसी कालमें दुष्टोंके पाप कर्म तथा महात्माओंके पुण्य कर्म करके प्रेरित हुआ ईश्वर दुष्टोंके पापका फल जो दुःख और महात्माओंके पुण्य-कर्मका फल जो सुख है, उनको देनेके लिए संकल्प करता है कि मैं अपनी मायाके द्वारा राम, कृष्णादिकोंके रूपमें दिखायी दूं । हे प्रिय ! ईश्वर सत्य संकल्पवाला है ,उसका संकल्प निष्फल नहीं होता । इसलिये इसप्रकार ईश्वरके संकल्प करतेही दुष्टोंके पाप-कर्म से और महात्माओंके पुण्य-कर्मसे बना हुआ शरीर, राम, कृष्णादिकों के रूप में दिखाई देने लगता है । और उन शरीरों करके दुष्टोंको दुःख तथा महात्माओंको सुख होने लगता है । क्योंकि उन्हींके कर्मों सेही यह राम कृष्णादिका शरीर बना है । और उनके कर्म फलका अवसान होने पर्यन्त वर्णाश्रमका धर्म श्रुति-स्मृति अनुसार स्थापितकर वे शरीर अन्तर्धान (गुप्त) हो जाता है । हे प्रिय! राम कृष्णादिकोंके शरीर में और स्मदादि मनुष्योंके शरीर में महदन्तर है । राम, कृष्णादिकोंका शरीर

शुद्ध सतोगुण प्रधान माया मय पंचतत्वों से रहित है। इसलिए सर्वज्ञ सत्य संकल्पवाला तथा स्वतंत्र है। और हमदादिकोंका शरीर मलीन सतोगुण प्रधान अविद्यामय पंचतत्वोंका है, इसलिए हम अल्पज्ञ, असत्य संकल्पवलि तथा परतंत्र हैं। ईश्वर का शरीरसमष्टि माया मय होने से अस्त्रादिकों से बंधयमान नहीं हो सकता, किसी शस्त्र करके छेदन नहीं हो सकता, पवन शोषण नहीं कर सकता तथा अग्नि जला नहीं सकता इत्यादि। पंचतत्वों से रचित पदार्थ किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँचा सकते, और हमदादि मनुष्योंके शरीर पंच तत्वों से बने हुएके कारण पूर्वोक्त सभी पदार्थ क्षति पहुंचा सकते हैं। शंका? हे गुरो! योगी जन भी जैसा संकल्प करते हैं, वैसा हो जाता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म शरीर बना सकते हैं, तथा स्थूल से स्थूल बना सकते हैं। सूर्य की किरण द्वारा आकाश में विचर सकते हैं, पर काय में प्रवेशकर सकते हैं। इत्यादि जो संकल्पकरें सो हो जाता है। पूर्वकाल में वशिष्ठ ऋषि तथा चूड़ाला इत्यादिकों का आकाश मार्ग में विचरना योग वशिष्ठ में लिखा है। और इदानि काल में भी शंकराचार्यका किसी राजा के शरीर में प्रवेश करना पाया जाता है। तो ईश्वर में और योगियों में क्या विलक्षणता हुई? समाधान—हे शिष्य? योगी जनतो अष्टांग योग साधन द्वारा पूर्वोक्त सिद्धियोंको प्राप्त होते हैं, और ईश्वरमें विना साधनके ही-अवतीर्ण होते ही ये सब सिद्धियां दर्शित होने लगती हैं। प्रश्न? हे भगवन्! राम, कृष्णादि अवतारोंमें से किस अवतारको श्रेष्ठ मानकर उपासनाकी जाय? उत्तर—हे वत्स! एक ही ईश्वरके सभी अवतार होनेसे सभी श्रेष्ठ तथा उपासना करने योग्य हैं, परन्तु "भिन्नोहि रुचिर्लोके" इस लोकमें रुचि भिन्न-भिन्न होती हैं। इस उक्तिके अनुसार जिस अवतारमें जिसकी विशेष श्रद्धा हो, वह उसीकी उपासना करे। शंका? हे भगवन्। जब सभी अवतार श्रेष्ठ हैं, तो व्यासजी ने पुराणोंमें परस्पर विरोध सा क्यों लिखा है, जैसे शिवपुराणमें शिवजी को ही विष्णु, शक्ति आदिका उत्पन्न करने वाले (कारण) लिखा है। विष्णु पुराणमें शिव, शक्ति आदि कार्यों

को उत्पन्न करने वाला विष्णुको ही लिखा है, देविभागवतमें शक्ति ही सबका कारण हैं, विष्णु, शिव, सूर्यादिक कार्य रूप हैं। और श्रीमद्भागवतमें कृष्णको ही सबका उत्पत्ति, पालन तथा नाश करनेवाला कहा है। इस प्रकार जिसके नामसे जो पुराण है, उस पुराणमें उसी को सर्वोत्कृष्ट बताया है। समाधान—हे वत्स! व्यासजी साधारण मुनि नहीं थे; मुनि कहते हैं मनन शीलको। ऐसे मननशील तथा कुशाग्र बुद्धिवाले महात्मा वेदव्यासजी विरोध सा क्यों लिखेंगे। [illegible] मुझे विरोध सा क्यों लिखेंगे। अपनी समझकी कमीसे तुझे यह विरोध सा प्रतीत हो रहा है। मैं इसका रहस्य बताता हूं, सावधान होकर श्रवण करो। हे प्रिय! राम, कृष्ण आदिके स्वरूप दो प्रकार हैं; एक सामान्य और दूसरा विशेष। उसमें सामान्य स्वरूप जो निर्गुण, निर्विकार, निर्विकल्प, नित्यमुक्त, इत्यादि जो शुद्ध चेतन है, सो तो सबका एक ही है। और विशेष जो मायिक, नामरूपात्मक, लीलामय है, वह भिन्न-भिन्न है। क्योंकि इन अवतारोंकी महिमाका जहां-जहां वर्णन पाया गया है, वहां-वहां, ये वाक्य अवश्य पाये जाते हैं कि हे प्रभो! आप निर्गुण हैं, निर्विकल्प हैं, निर्विकार हैं तथा नित्य मुक्त हैं, इत्यादि। उसके बाद जब विशेष रूपका वर्णन होने लगता है, तब उनके लीलामय रूपके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंका वर्णन होता है। प्रत्येक अवतारका लक्ष्य एक सामान्य स्वरूप होनेसे, प्रत्येक अवतारकी उपासनाका फल एक ही है। सकाम भावसे उपासना करने से पुत्र, कलत्र, धनादिकी प्राप्ति होती है। और निष्काम भावसे करनेसे चित्त शुद्ध होकर स्थिर हो जाता है, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है। महर्षि व्यासजी जब किसी अवतारका वर्णन कारण रूपमें करने लगे हैं, तब उन्होंने सामान्य स्वरूपके लक्ष्यसे ही किया है। और उस अवतारके अतिरिक्त अन्य अवतारोंकी विशेष रुप पर लक्ष्य रखकर कार्यके रूपमें वर्णन किया है। इससे सिद्ध हुआ कि एक ही अव्यक्त सामान्य स्वरूप जो कारण है, वह अनेक विशेष रूपमें व्यक्त होता है। अतः सामान्य स्वरूप पर लक्ष्य रखकर किसी एक अवतारकी उपासना करनेसे भी सम्पूर्ण अवतारोंकी उपासना हो जाती है। इस प्रकार

सिद्धान्तमें कुछ विरोध न रखते हुए सुजान व्यासजी श्रद्धा विश्वास बढ़ानेके लिये तथा अनन्य चित्तसे उपासना करनेके लिये प्रशंसात्मक वाक्योंका प्रयोग किया है। शंका! हे भगवन। इन अवतारोंका सामान्य स्वरूप भले ही एक हो, परन्तु जो विशेष रूप हैं, वे तो परस्पर न्यूनाधिक शक्ति वाले अवश्य होंगे। समाधान—हे तात न्यूनाधिक शक्तिवाले नहीं होते; किन्तु समान शक्ति वाले ही होते हैं। आवश्यकतानुसार ही अपनी सामर्थ्य प्रगट करते हैं; जैसे किसी मनुष्यको कुएंमें से एक लोटा जल खींचना होता है, तो लोटा भर जल खींचने हो भरका बल लगाता है; यद्यपि सजल घड़ा खींचने का भी उसे बल रहता है। वैसे ही सर्व शक्तिमान होते हुए भी ईश्वर के सगुण स्वरूपोंमें कार्यानुसार ही शक्ति दर्शित होती है। पूर्वमल, विक्षेपकी निवृत्ति निष्काम कर्म तथा उपासना द्वारा कहा गया। अब आवर्णकी निवृत्ति केवल ज्ञान करके बताते हैं। हे शिष्य! अन्तःकरणमें दो दोष और भी रहते हैं, जिससे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। प्रथम असंभावना, जिसे संशय भी कहते हैं, और दूसरा विपर्यय, जिसे विपरीत भावना कहते हैं। असंभावना दोष प्रमाण गत होता है और विपरीत भावना दोष प्रमेय गत होता है। प्रमाण जो हैं वेद-शास्त्र, वे अद्वैत ब्रह्मके प्रतिपादक हैं, अथवा किसी अन्य विषयके। ऐसी संशय को ही असंभावना दोष कहते हैं, सो श्रवणसे दूर होता है। और जीव ब्रह्मका भेद सत्य है, अथवा अभेद सत्य है। इस प्रकारके संशयको ही असंभावना दोष कहते हैं, सो मननसे दूर होता है। शरीरादिक अनात्म पदार्थ सत्य हैं और ब्रह्मात्मा असत्य है। इस प्रकारके विपरीत ज्ञान को विपर्यय दोष कहते हैं, सो निदिध्यासन करके निवृत्त होता है। हे प्रिय! इस प्रकार असंभावना और विपरीत भावना रूपी दोषोंको पूर्वोक्त प्रकारसे निवृत्त करके ही अधिकारी पुरुष ज्ञान द्वारा आवर्ण रूपी अज्ञानको निवृत्त करनेमें समर्थ होता है; अन्यथा नहीं। ज्ञान दो प्रकारका होता है। प्रथम परोक्ष ज्ञान और दूसरा अपरोक्ष ज्ञान। अवान्तर वाक्यसे परोक्ष ज्ञान होता है और महा वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान। जो जीव और ब्रह्मके स्वरूपको पृथक पृथक प्रतिपादन करे, उसे अवान्तर वाक्य

कहते हैं और जो जीव तथा ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करे, उसे महावाक्य कहते हैं। इस प्रकार गुरु मुखसे श्रवण कर, जिज्ञासु शिष्यको बड़ा आनन्द हुआ। और जीव और ब्रह्मके स्वरूपको जानने की इच्छासे जो कुछ उसने पूछा, सो आगेके परिच्छेदमें दिया जाता है।

तीसरा परिच्छेद

जीव और ब्रह्मकी एकता

शिष्य उवाच

सोरठा

असित उरग भव आन, भो भगवन् तव वचन अमि ।
करत श्रवन पुट पान, नहिं अघात मन आज मम ॥ १॥
ब्रह्म जीवके रूप, पृथक-पृथक मोसे कहो ।
पुनि द्वै एक स्वरूप, कहहु नाथ समुझाई के ॥ २॥

अर्थ—हे भगवन्! संसार रूपी सर्पसे ग्रसित-मेरे लिए—आपके वचन अमृत तुल्य हैं। श्रवण मार्गसे पान करके आज मेरा मन तृप्त नहीं होता। हे नाथ। ब्रह्म तथा जीवके स्वरूपको पृथक-पृथक मुझसे कहें। और फिर, दोनों के स्वरूपको अर्थात् ब्रह्म और जीवके स्वरूपको एकता करके मुझसे अच्छी प्रकार समझाकर कहें। मायाके स्वरूपको और अविद्याके के स्वरूपको जाने विना ब्रह्म और जीवके स्वरूपको जानना दुष्कर है, यह अभिप्राय मनमें रखकर महात्मा माया और अविद्याके स्वरूपको कथन करते हैं ।

श्री गुरुरुवाच

दोहा

रज तम से जो ना दबे, सतगुण शुद्ध प्रधान।
माया ताहि बखानिये, आश्रय ब्रह्म समान ॥१॥

अर्थ—जो सतोगुण—रजोगुण और तमोगुणसे नहीं दबे अर्थात् रज, तमको स्वयँ दबा कर सदा सतोगुण उदय रहे, उसे शुद्ध सतोगुण प्रधान माया कहते हैं। यह माया (सर्वदा) समान ब्रह्म कहिये शुद्ध चेतनके आश्रय रहती है; जो ब्रह्म उपाधि रहित सर्वत्र एक समान व्यापक है। प्रश्न ? हे भगवन् ! माया सत्य है अथवा असत्य ? उत्तर— हे शिष्य ! इस मायाको सत्य कहा जाय, तो आत्म स्वरूपकी प्राप्ति करके इसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। और यदि इसको असत्य कहा जाय, तो कारण-कार्य रूप अखिल ब्रह्माण्डकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये; जैसे शशा शृंग तथा बन्ध्या पुत्रकी प्रतीति नहीं होती। परन्तु इस ब्रह्माण्ड रूप माया करके तो दुःख-सुखकी प्रतीति सत्य सी होती है। अतः यह माया सत्य-असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय है।

अब अविद्याका स्वरूप वर्णन करते हैं।

दोहा

रज तमसे दबि जात जो, मलिन सतोगुण सोय।
सो कूटस्थ आश्रय रहे, नाम अविद्या होय ॥१॥

अर्थ—जो सतोगुण—रजोगुण और तमोगुणसे दब जाता है अर्थात् कभी कभी सतोगुण उदय होता है, नहीं तो बार-बार रजोगुण और तमोगुण उदय होते रहते हैं; उसे मलिन सतोगुण प्रधान अविद्या कहते हैं। जो माया विशिष्ट—चेतनके आश्रय रहती है। अब तत्वमसि सामवेदके इस महा वाक्यके अर्थ द्वारा जीव और ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हैं। हे शिष्य ! इस तत्वमसि महावाक्यमें तीन शब्द हैं; तत्+त्वम+असि=तत्वमसि। अब इन शब्दोंका परिभाषा पृथक पृथक कहते हैं।

दोहा

मायाका आधार पुनि, मायामें आभासु।
अरु माया ये तीन मिलि, तत पद कहिये तासु ॥१॥

अर्थ— मायाका आधार कहिये जो अधिष्ठान=शुद्ध-ब्रह्म है, और उसी ब्रह्मका आभास कहिये बिम्ब जो मायामें पड़ा है; सो, तथा माया; ये तीनों मिलकर तत् पद होता है।

दोहा

भास अविद्यामें परो, और अविद्याधार।
पुनः अविद्या जब मिले, त्वं पदता निरधार ॥१॥

अर्थ— (तत् पदका वर्णन करके अब त्वं पदका वर्णन करते हैं) अविद्याका आधार कहिये जो अधिष्टान, जो मायाविशिष्ट-चेतन है, और अविद्यामें भास कहिये मायाविशिष्ट चेतनका प्रतिबिम्ब और अविद्या, ये तीनों मिलकर "त्वं" पद होता है।

दोहा

तत् पद ईश्वर जानिये, त्वं पद जीव सुजान।
त्वं पद लच्छ कूटस्थ है, तत् पद लच्छ समान ॥१॥

अर्थ—हे सुजान कहिये चतुर शिष्य! पूर्व जो तत्पदका स्वरूप कहा गया, उसे ईश्वर जानो और त्वं पदको जीव जानो। त्वं पदको जो जीव, उसका लक्ष्य कूटस्थ कहिये माया विशिष्ट ईश्वर है और तत्पदका लक्ष्य समान कहिये शुद्ध-चेतन (ब्रह्म) है।

दोहा

तत्त्वं पदको एकता, असि पद वर्णत वेद।
भाग त्याग करि लच्छना, निवृत्त होत उर भेद ॥१॥

अर्थ—भाग त्याग लक्षण करके, तत्पद और त्वं पदको एकताको वेद "असि" पद कहता है। इस प्रकार एकता हो जाने पर हृदयका

भेद कहिये द्वैत-भाव निवृत हो जाता है। हे प्रिय! शास्त्रमें लक्षणा तीन प्रकारकी प्रसिद्ध है, जहति, अजहति और भाग त्याग, जिसे जहत अहजति भी कहते हैं। वाच्य अर्थका त्याग कर, उस वाच्य अर्थसे सम्बन्ध रखने वाले तटस्थका ग्रहण किया जाय, उसे जहति लक्षण कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि गंगामें ग्राम है। यहां गङ्गा तो जल—प्रवाह-रूप है, उस जल प्रवाहमें ग्रामका होना असम्भव है। अतः उस जल-प्रवाहसे सम्बन्ध रखनेवाला जो तट, उसी पर ग्राम है। जहां वाच्य अर्थको न त्याग करके; किन्तु उस वाच्य अर्थके साथ ही और का भी ग्रहण हो, वहां अजहति लक्षणा जानना चाहिये। जैसे किसीने कहा कि लाल दौड़ता है। यहां लाल वाच्यका अर्थ जो रक्त-वर्ण है, उसमें अधिक घोड़ाका भी ग्रहण किया गया है। नहीं तो, लाल तो एक वर्ण है, इसमें किंचित् भी चेतनता नहीं है, कि दौड़ सके। और जहां किसी भागको त्याग कर, किसी भागका ग्रहण किया जाय, उसे भाग त्याग लक्षण अथवा जहति अजहति लक्षणा कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि यह वही देवदत्त काशीमें है, जिसे मैंने हरिद्वार में देखा था। जब हरिद्वारमें देवदत्त था, तब भी दो भाग थे, प्रथम हरिद्वार द्वितीय देवदत्त। और इस समय भी दो भाग हैं, प्रथम काशी और द्वितीय देवदत्त। यहां दोनोंके प्रथम भाग जो हरिद्वार और काशी, उनको त्याग कर दोनोंके द्वितीय भाग जो देव-दत्त है, उसे ग्रहण करनेसे एक ही देवदत्तका बोध होता है।

हे तात! ईश्वर और जीवके विषयमें जो प्रथम लक्षण जहति है, सो घट नहीं सकती। क्योंकि ईश्वर और जीवका वाच्य अर्थ जो चेतन है, उसको त्याग कर तटस्थ अज्ञानको ग्रहण करनेसे महा अनर्थ हो जायगा। क्योंकि श्रुतिने ईश्वर और जीवको चेतन कहा है और अज्ञान जड़ है। दूसरी जो अजहति लक्षण है, सो भी यहां नहीं घट सकती। क्योंकि ईश्वर और जीवका वाच्यार्थ जो चेतन है, उसके ग्रहणके साथ, अधिक जो अज्ञान है, उसका भी ग्रहण किया जाय, तो भी महान् अनर्थ की प्राप्ति होगी, क्योंकि श्रुतिने चेतनकी

अज्ञान (अन्धकार) से अत्यन्त परे कहा है। यथा—"आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।" अतः हे प्रिय यहां भाग त्याग लक्षण ही ग्रहण करने योग्य है। अब पूर्वोक्त दोहेके भावार्थमें ईश्वर और जीवके विषय में सविस्तार भाग त्याग लक्षण दिखाते हैं।

पूर्वोक्त दोहेका भावार्थ—तत् पद जो ईश्वर है उसमें दो भाग हैं, एक चेतन-विम्ब, दूसरा समष्टि माया, जिसको मूलाज्ञान कहते हैं। और त्वं पद जो जीव है. उसमें भी दो भाग है, एक चेतन प्रतिविम्ब, दूसरा अविद्या अंश, जिसको तूलाज्ञान कहते हैं। हे प्रिय! ईश्वरके समष्टि-माया रूपी जो दूसरा भाग है और जीवके अविद्या-अंश रूपी जो दूसरा भाग है, इन दोनोंको त्याग देनेसे ईश्वरका पहिला भाग जो विम्ब चेतन है और जीवका पहिला भाग जो प्रतिविम्ब चेतन है, ये दोनों मिलकर एकही शुद्ध चेतन हो जाते हैं। अर्थात् ईश्वरका लक्ष्य जो शुद्ध चेतन है वही रह जाता है। इसीको भाग त्याग लक्षण कहते हैं। एक ही चेतन उपाधि करके ईश्वर, जीव, इत्यादि संज्ञाको प्राप्त है। जैसे एक ही विश्वव्यापक सूर्यका विम्ब मलीन स्थानोंमें नहीं दीखता। किन्तु स्वच्छ जलाशयमें ही वह विम्ब प्रकाश युक्त दिखायी देता है। और जो उसी जलाशयके तट पर स्वच्छ दर्पण रहता है, तो जलमें पड़े हुए विम्बका प्रतिविम्ब प्रकाश युक्त उस दर्पणमें दिखायी देता है। उस सूर्यके विम्ब और प्रतिविम्बका हेतु जलाशय और दर्पण ही है। नहीं तो सूर्य—रश्मि तो सर्वत्र व्यापक है। उसी प्रकार सामान्य चेतन जो शुद्ध ब्रह्म है, सो तो सर्वत्र समान रूपसे व्यापक है, परन्तु स्वच्छ जो शुद्ध सतोगुण प्रधान माया तथा मलिन सतोगुण प्रधान अविद्या है, ये दोनों ही उस शुद्ध ब्रह्मके विम्ब प्रतिविम्बके कारण हो जाती हैं। यहां माया और अविद्याको सतोगुणकी विशेषता से स्वच्छ तथा विम्ब, प्रतिविम्बका हेतु कहा गया। उसमें माया विशेष स्वच्छ और सूक्ष्म-स्थूलमय जगतका कारण है। यह माया-विशिष्ट ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व देशी तथा स्वतन्त्र है। शुद्ध चेतनका पड़ा हुआ जो मायामें विम्ब है, वही माया विशिष्ट चेतन कहलाता है और उसे मायामें आरूढ़ चेतन भी कहते हैं। और मायाका अधिष्ठान (आश्रय) माया उपहित चेतन कहलाता है। इस हिसाबसे आरूढ़

को विशिष्ट कहते हैं और अधिष्ठानको उपहित कहते हैं। अविद्याका अंश जो सूक्ष्म अन्तः करण है, सो स्थूलका उत्पादक है तथा मायाकी अपेक्षा न्यून स्वच्छ है। अतः अविद्या विशिष्ट चेतन जो जीव है, सो अल्पज्ञ, एक देशी, तथा परतन्त्र है। त्वं पदका वाच्य ईश्वर है और वाचक जीव है। तत् पदका वाचक ईश्वर है और वाच्य ब्रह्म है। जीव और ईश्वरसे मुख्य समानाधिकरण है। जीव और ब्रह्मसे बाध समानाधिकरण है। वैसे ही ईश्वर और ब्रह्म से मुख्य सामानाधिकरण है।

प्रश्न ? हे भगवन् ! मुख्य समानाधिकरण तथा बाध समानाधिकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर—हे शिष्य ! जो किसी उपाधिको बाधि करके अर्थात् त्याग करके अगले पदार्थसे संबन्ध अथवा एकता अथवा लक्ष्य रख, उसे बाध समानाधिकरण कहते हैं और जो किसी उपाधि के त्याग किये बिना ही अगले पदार्थसे लक्ष्य रखे, उसे मुख्य समानाधिकरण कहते हैं।

जैसे महाकाश मठाकाश, और घटाकाश हैं। इन तीनोंमें महाकाश एक ही है, परन्तु मठ, घटकी उपाधि करके मठाकाश तथा घटाकाश कहा गया है। यहां घटाकाशसे और महाकाशसे बाध समानाधिकरण है। क्योंकि घटाकाश और महाकाशके बीचमें मठाकाशकी उपाधि है। उस मठाकाशको बिना बाध किये महाकाशसे मुख्य समता नहीं हो सकती। और घटाकाशसे तथा मठाकाशसे तो एकता है, क्योंकि बीचमें कुछ है ही नहीं। वैसे ही मठाकाशसे और महाकाशसे एकता है। अतः यहां दोनों जगह मुख्य समानाधिकरण ही होता है। उसी प्रकारसे जीव और ब्रम्हके बीचमें ईश्वर है। इसलिये ईश्वरको बाधि करके जीव को ब्रम्हसे बाध समानाधिकरण है। और जीव ईश्वरके मध्यमें तथा ईश्वर ब्रम्हके मध्यमें कुछ बाध करनेको नहीं है। अतः यहां जीव ईश्वरके साथ तथा ईश्वर ब्रह्मके साथ मुख्य समानाधिकरण है।

इस प्रकार गुरु–मुखसे श्रवण करके परमानन्दको प्राप्त होता हुआ शिष्य बोला—हे कृपालो ! तत्वमसि इस सामवेदके महावाक्यका मतलब मैंने सविस्तार श्रवण किया, अब शेष तीन महावाक्योंको भी अर्थके सहित सुनना चाहता हूं। श्रद्धाके सहित शिष्यकी नम्र वाणी श्रवण कर महात्मा बोले—हे शिष्य ! अयमात्माब्रह्म, इस अथर्वण वेदके महावाक्यमें आत्मा पदका जीव वाच्य है, और कूटस्थ (ब्रह्म) लक्ष्य है। ब्रह्म पदका ईश्वर (कूटस्थ) वाच्य है, और शुद्ध चेतन लक्ष्य है। अयं पद आत्माका अपरोक्ष सूचक है। क्योंकि अयका अर्थ होता हैं यह, यह शब्दका प्रयोग अपरोक्ष ही पदार्थ पर निर्देष रूपसे किया जाता है। इसी प्रकार प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म, इस ऋग्वेदके महावाक्यमें प्रज्ञान पदका जीव वाच्य है और ब्रह्म जो ईश्वर है सो लक्ष्य है। ब्रह्म पदका ईश्वर वाच्य हैं और शुद्ध चेतन लक्ष्य है। प्रज्ञान पदके साथ आनन्द पदका प्रयोग करनेमें श्रुतिका यह तात्पर्य है, (आशय हैं) कि प्रज्ञान जो जीव है सो आनन्द स्वरूप ही हैं, न कि आनन्द गुणवाला हैं। वैसे ही अहं ब्रह्मास्मि, इस यजुर्वेदके महावाक्यमें अहं पदका वाच्य जीव है' ब्रह्म जो ईश्वर हैं, सो लक्ष्य हैं। और ब्रह्म पदका वाच्य ईश्वर हैं और शुद्ध चेतन लक्ष्य है। हे प्रिय ! इस प्रकार सम्पूर्ण महावाक्य तथा अन्य वाक्य, भाग त्याग लक्षण द्वारा शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। शुद्ध ब्रह्म किसी पदका वाच्य हो नहीं सकता। अतः सभी पद विशिष्टके तो वाचक हैं और शुद्धके लक्षक हैं।

चौथा परिच्छेद

एक ही शुद्ध चेतनमें उपाधिसे अनेकता

हे प्रिय ! निर्विकल्प, असंग, निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य मुक्त एक अद्वैत परमेश्वर ही सब कुछ रचकर उसमें प्रवेश करके नाम रूपवाला होकर भासता है। उससे पृथक कुछ मत जानना, नहीं तो जन्म-मरण रूपी भयको प्राप्त होंगे। श्रुति भी कहती है। "द्वितीया द्वै भयं भवति।" दूसरे करके दूसरेको भयकी प्राप्ति होती है। और भी, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" ॥ आनन्द स्वरूप ब्रह्मको जाननेवाला कभी भी भयको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार गुरु मुखसे श्रवण करके शिष्यको शंका उत्पन्न हुई। उस शंकाकी निवृत्तिके लिये बोला।

शिष्यउवाच

दोहा

नित्य मुक्त निर्गुण यदा, निष्क्रिय अद्वैय एक
निर्विकल्प जब ब्रह्म है, तो किमि होत अनेक ॥१॥
भाषत वचन विरोध सों, विना संग नहीं खेल ॥
जो अनेक है एक किमि, यह सिद्धान्त अमेल ॥२॥

हे प्रभो ! जब परमेश्वर एक है, नित्य-मुक्त है, निष्क्रिय है, निर्गुण है तथा निर्विकल्प है, तो अनेक कैसे हो सकता है ? मुझे यह आपका वचन विरोध सा प्रतीत होता है। बिना संग कहिये आसक्तिके तो, बालक-खेल भी नहीं करते। और जो अनेक हैं, वह एक कैसे हो सकता है ? भावार्थ—हे भगवन् ! जो वह परमेश्वर निर्विकल्प है, तो उसे संसार रचनेकी कल्पना क्यों हुई ? तथा जो असंग है तो कामना

के अभावसे कोई कार्य हो नहीं सकता। क्योंकि बालक भी किसी खेलका प्रारम्भ और नहीं तो विनोदार्थ तो अवश्य करते हैं। तो क्या, परमेश्वर बाल स्वभावका है? जो निर्गुण तथा निष्क्रय है, तो उसे गुण तथा क्रियामय अखिल ब्रह्मांड कैसे हो गया? जो एक ही नित्य मुक्त है, तो अनेक सा होकर बन्धन सा प्रतीत क्यों होता है? और जो पदार्थ अनेक हैं वे एक कैसे हो सकते हैं। इस प्रकारकी शंकाओंको करके आपके सभी वाक्य मुझे विरोधसे प्रतीत हो रहे हैं। आप मेरे ऊपर अनुग्रह करके मेरी इन शंकाओंको दूर करे, जिससे मैं परम शान्तिको प्राप्त होऊं।

श्रीगुरुरुवाच

दोहा

जदपि कहा प्रथमहि तुझे, तदपि परा नहिं सूझ॥
पुनि वर्णन अब करत हौं तै चित थिर करि बूझ॥१॥

अर्थ—हे शिष्य! यद्यपि मैं प्रथमहीं तत्त्वमसिके व्याख्यामें मायाकृत गुणोंके न्यूनाधिकसे परमेश्वरमें अनेकताका अध्यास कहा, तथापि तेरे समझमें नहीं आया। अतः अब मैं फिर से स्पष्ट वर्णन करता हूं, तुम चित्तको स्थिर करके समझो। शिष्यके बोध हित अब की सृष्टि क्रमसे समझाते हैं।

श्री गुरुरूवाच

कवित्त

जीवनकी कर्म वासनासे मुक्त प्राप्त भई
माया सो विचित्र सत असत न मानिये।
ताहिते अच्छादित अद्वैत ब्रह्म सृष्टि पूर्व,
जीवनके भोगनते प्रेरित बखानिये॥

एक से अनेक होऊं करिके शंकल्प पुनि,
पंच तत्वरचि तासों चारि खानि जानिये।
तत्वनके सत्वसे है हृदय औ ज्ञान इन्द्रि,
तनस्थूल-प्राण तम रज करि मानिये ॥१॥

अर्थ—अनादि जीवोंकी कर्म-वासना करके युक्त जो विचित्र भावको प्राप्त हुई माया है, उसे न तो सत कहना चाहिये और न असत्। उस माया करके आच्छादित एक अद्वैत परमात्मा सृष्टिके पहले; जीवोंके कर्म-फल भोगसे प्रेरित हुआ मैं एकसे अनेक हो जाऊं, ऐसा सँकल्प किया। उसके बाद पंच तत्वोंको उत्पन्न करके, उन पंच तत्वोंसे चार खान कहिये अण्डज-पिण्डज-उष्मज-स्थावर रूप जढ़ चेतन मय सृष्टि की। उसमें पंच तत्वोंके सतोगुण से तो अंतःकरण और ज्ञानेन्द्रियाँ हुईं और तमोगुणसे स्थूल शरीर तथा रजोगुणसे प्राण हुए। भावार्थ—सत्- असत्से विलक्षण जो अनिर्वचनीय माया है। उसीको अविद्या, अज्ञान; प्रधान प्रकृति इत्यादि-नामों करके शास्त्रोंमें कहा गया है। उस मायाको अनादि जीवोंकी कर्म वासना भी कहा जाय, तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। ऐसी कर्म-वासनामय एवं विचित्र भावको जो प्राप्त है, उस मायाने सृष्टिके आदिमें उस परमेश्वर को कैसे आच्छादित किया था? जैसे गृहके किसी कोनेमें यत्किंचित् अन्धकार रहता है, अथवा जैसे इस वृहद् व्यापक आकाश ही के किसी एक हिस्सेको मेघ, धूम अथवा रज आच्छादित किये रहते हैं। जब-प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मों के फल सुख-दुःख रूपी भोग देनेको तैयार हुए, तब माया विशिष्ट परमेश्वरको इच्छा हुई कि मैं एक अद्वितीय होता हुआ भी अनेक हो जाऊँ। तब "अघटित घटना पटीयसी" जो चेतन-परमेश्वरकी सत्तासे असँभवित घटनाको भी संभवित सा कर देती है। ऐसी सामर्थ्य वाली जो माया है, उस मायासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई, वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी, और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। हे प्रिय! जढ़ होनेके कारण आकाशादिकोंमें उत्पत्ति करनेकी शक्ति नहीं है,

इसलिये यहां आकाशादिकोंमें जो चेतन रूप परमेश्वर है, उसकी सत्ता करके आकाशादिकोंसे उत्पत्ति समझना, यह सृष्टिका नियम है कि कारणका गुण कार्यमें होता है। आकाशका शब्द गुण है, वायुकी उत्पत्ति आकाशसे होनेसे वायुमें दो गुण हुए। एक शब्द आकाशका और दूसरा स्पर्श गुण अपना। इस हिसावसे अग्निमें तीन गुण हुए। शब्द-स्पर्श-रूप। उसमें प्रथमके दो गुण वायुके और तीसरा अपना है। जलमें चार गुण हुए, शब्द-स्पर्श-रूप रस। उसमें प्रथमके तीन गुण अग्निके हैं और पिछला रस-गुण अपना है। पृथ्वीमें पाँच गुण हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। उनमें प्रथमके चार गुण जलके हैं और पिछला गंध गुण अपना है। उन आकाशादि पंच भूतोंसे चार खानमय-अखिल ब्रह्मांडकी रचना हुई। अंडज, पिण्डज, उष्मज और स्थावर ये चार प्रकारकी खानें हैं। अंडेसे जिनकी उत्पत्ति हों, वे अंडज कहलाते हैं, जैसे पक्षी, मछली, कच्छप, आदि। पिंड कहिये रज वीर्य मिलकर जो जेर रूपके अन्दर गर्भमें पिण्डाकार होकर शरीर बनता है, उसे पिण्डज कहते हैं, जैसे मनुष्य, गो, महिष आदि पशु। उष्मज कहिये उष्णता करके, जैसे प्रस्वेदादिसे जो उत्पन्न हों, उन्हें उष्मज कहते हैं, जैसे चीलर आदि। और जो पृथ्वी फोड़कर निकसें, उन्हें स्थावर कहते हैं, जैसे वृक्षादि। इन चार खानोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हुयी ? पंच भुतोंके सतोगुणसे पंच ज्ञानेन्द्रियां और अन्तःकरण हुए। जैसे—आकासके सतोगुणसे श्रोत्र, जो आकाशके शब्द गुणको श्रवण करते हैं। वायुके सतोगुणसे त्वचा, जो वायुके स्पर्श गुणका ज्ञान करती है। अग्निके सतोगुणसे नेत्र जो अग्निके रूप गुणका ज्ञान करते है। जलके सतोगुणसे रसना हुयी, जो जलके रस-गुणका ज्ञान करती है। और पृथ्वीके सतोगुणसे घ्राण हुआ जो पृथ्वीके गंध गुण को ग्रहण करता है। और पांचों भूतोंके सतोगुण मिल करके अन्तः-करण बना, जो कार्य द्वारा चार नामवाला हुआ। जैसे कार्याकार्यके निर्णय करनेसे बुद्धि, चिन्तन करनेसे चित्त, अभिमान करनेसे अहंकार और शंकल्प-विकल्प करनेसे मन नाम वाला हुआ, जैसे एकही शान्त

(स्थिर) जलमें वायु द्वारा अनेक तरंगें उठती हैं। हे प्रिय! उसी पंच भूतोंके तमोगुणसे घट, पटादि स्थूल पदार्थ हुए। और रजोगुण से पंच कर्मेन्द्रिय तथा प्राण हुए। जैसे आकाशके रजोगुणसे वाक्, जो शब्द बोलता है। वायुके रजोगुणसे हाथ, जो ग्रहण करते हैं। अग्निके रजोगुणसे पैर, जो गमन करते हैं, जलके रजोगुणसे उपस्थ, जो मूत्र त्याग करता है, और पृथ्वीके रजोगुणसे गुदा जो मल त्यागती है। शब्द जो वाक् वोलेगा, वही श्रवण सुनेगा, क्योंकि ये दोनों शब्द गुण वाला आकाशसे वने हैं। जो त्वचा स्पर्श करेगी वही हाथ ग्रहण करेगा, क्योंकि ये दोनों स्पर्श-गुण वाले वायुसे वने हैं। जहां नेत्र देखेंगे, वहाँ पैर गमन करेंगे, क्योंकि ये दोनों रूप गुण वाले अग्निसे वने हैं। जो रस जीभ ग्रहण करेगी वही लिङ्ग त्याग करेगा, क्योंकि ये दोनों रस गुण वाले जलसे वने हैं। जो गँध नासिका ग्रहण करेगी, वही गुदा त्यागेगी, क्योंकि ये दोनों गंध गुणवाली पृथ्वीसे वने हैं। पंच तत्वोंके रजोगुण मिलकर प्राणोंकी उत्पत्ति हुई। उनके नाम और कार्यका आगे वर्णन करते हैं ॥

पञ्च मुख्य प्राणोंके नाम और उनके कार्य तथा निवासस्थान

चौपाई

श्वास प्रश्वास लेत जो प्रानी।
जाते पचत अन्न अरु पानी ॥
जलको स्वेद मूत्र जो करता।
जो रसादि शुक्रहिं अनुसरता ॥
ताको नाम प्राण है भाई।
जे हिय बीच रहा ठहराई ॥
जो रसादि पाचनको कारण।
वर्धित अग्नि करत जो इहितन ॥

जो मल मूत्र वहिर्गत करई ।
अरु अहं कोषमें शुक्रहिं धरई ॥
प्रेरित होत शिश्न कटि जंघा ।
जाते जानु उरूये संघा ॥
सोइ अपान वायू कहलावे ।
नाभि अधोमें वास वतावे ॥
सहस्र वहत्तर नाड़िन अन्दर ।
जो रसादि पहुंचावे सुन्दर ॥
पुष्ट करे तन स्वेद निकासे ।
वायु समान नाभि परकासे ॥

अर्थ स्पष्ट है ।

दोहा

कंठ कमर गर्दन सभी नेत्र गुल्फ अरु कान ।
इनके निचले भागको, प्रेरित करे विआन (व्यान ॥१॥
व्यान बसत सव अंगमें, कंठहि बसे उदान ।
अरु प्रेरित सव संधिको, करत रहत कल्यान ॥२॥

अर्थ स्पष्ट है ।

पंच उप प्राणोंके नाम तथा कार्य

दोहा

संकोच न कर कूर्म नित, नाग करे उदगार ।
निन्द्रा तन्द्रा आलसा, देवदत्त व्यवहार ॥१॥

क्षुधा तृषा इस देहमें, कृकल देत उपजाय।
पोषण करै धनंजया, कायामें सरसाय ॥२॥

अर्थ स्पष्ट है।

हे शिष्य! मुख्य प्राण पूर्व कहे हुए पांच ही हैं, उन्हीं पाँचोंमें इन पाँच उप प्राणोंका भी समावेश हो जाता है। उन पांचों प्राणोंमें प्राण का मुख्य कर्म श्वांस-प्रवांस लेना ही है। अपानको मुख्य कार्य मल-मूत्र त्यागना है। रस रक्तादि धातुओंको शरीरकी सम्पूर्ण नाड़ियोंमें बराबर-बराबर पहुंचा देना समान वायुका मुख्य कार्य है। शरीरकी सूक्ष्म स्थूल-संपूर्ण नाड़ियोंमें व्याप्त होकर सबको प्रेरित करना व्यानका मुख्य कार्य है। किसी बोझाको उठाने, तैरने, इत्यादिमें जहाँ आधा-बल लगे, वहां व्यान ही का बल समझना चाहिये। मरणान्तमें-प्राणियोंको नीच तथा ऊंच योनियोंमें पहुंचा देना उदानका मुख्य कार्य है। क्योंकि जब शरीर छूटने लगता है, तब सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्ति और सम्पूर्ण प्राण एक उदानका ही आश्रय लेते हैं, जैसे नाभिके नीचेके सब अङ्गोंमें अपान रहनेवाला प्रथम समानमें मिल जाता है, यही कारण है कि प्रथम नाभिके नीचेके पैरादि भाग चेतना रहित हो जाते हैं, तब समान व्यानमें मिल जाता है, पुनः संपूर्ण नाड़ियोंमें रहनेवाला व्यान प्राणमें मिल जाता है, तब सम्पूर्ण अङ्ग चैतन्यता तथा उष्णता से रहित हो जाते हैं, केवल हृदय, (छाती) से मुख तक चैतन्यता तथा उष्णता रह जाती है, क्योंकि प्राण छातीसे मुख पर्यन्त आता-जाता रहता है। पुनः जब प्राण भी उदानमें मिल जाता है तब तत्काल ही प्राणी मूर्छित हो जाते हैं, तब छाती भी ठंढी होकर जड़ सा हो जाती है, उस समय प्राणी न तो किसीको देखते हैं और न किसीकी बात सुनते हैं, क्योंकि नेत्र श्रोत्रादि इन्द्रियाँ प्राणोंकी ही सहायतासे अपने-अपने कार्य करती हैं। यहां प्राणोंसे मतलब प्राणोंमें व्यापक चेतनसे है। इसके बाद, हे शिष्य! वह उदान शरीरके किसी अङ्गसे निकल कर प्राणियोंकी वासना अनुसार योनियोंमें प्रवेश कर जाता

है। वहाँ पुनः उदानमें से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा प्राण व्यक्त होकर अपने-अपने कार्यमें नियुक्त हो जाते हैं। हे सौम्य! पिण्ड और ब्रह्मांडमें कुछ अन्तर नहीं है। किन्तु जो ब्रह्मांडमें है, वह पिंडमें है, और परमात्माने पिंड-ब्रह्मांडको एक सूत्रमें बांध रखा है। शंका है भगवन्! जो ब्रह्मांडमें है, वह पिंडमें कैसे है? और परमात्माने पिंड—ब्रह्मांड को एकमें कैसे बाँध रखा है? समाधान—हे सौम्य! जैसे ब्रह्मांडमें सबसे ऊपर तथा सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म लोक है, वैसे ही इस शरीरमें भी सबसे ऊंचा तथा सर्वोत्कृष्ट शीश माना गया है, और इस मनुष्य—शीशका ब्रह्म लोक आधार है, क्योंकि यदि ब्रह्म लोक न रहे तो शीश फूट जाय। जैसे ब्रह्मांडमें सूर्य-चन्द्रमा दो नेत्र प्रकाशते हैं, वैसे ही मनुष्यके शरीरमें भी दो नेत्र प्रकाशते हैं, यदि सूर्य-चन्द्र न रहें, तो इन नेत्रोंसे दिखायी न दे। जैसे ब्रह्मांडमें दिशायें हैं, वैसे ही इस शरीरमें भी श्रोत्र हैं, यदि दिशायें न रहें, तो इन श्रोत्रोंसे सुनायी न दे। जैसे ब्रह्मांडमें आकाश है, वैसे ही इस शरीरमें समान समेत धड़ हैं, यदि आकाश न रहे तो यह धड़ शीघ्र गिर जाय। जैसे ब्रह्मांडमें वायु है, वैसे ही इस शरीरमें प्राण है, यदि वायु न रहे तो प्राण भी न रहे। जैसे ब्रह्मांडमें पृथ्वी है, वैसे ही इस शरीरमें अपान सहित पैर हैं, यदि पृथ्वी न रहे, तो अपान सहित पैर नष्ट हो जायं। जैसे ब्रह्मांडमें समुद्र है; वैसे ही इस शरीरमें मूत्राशय है। यदि समुद्र न रहे, तो मूत्राशय भी नष्ट हो जाय। शङ्का। हे प्रभो! यह मैं मानता हूं कि पृथ्वीके न रहनेसे पैर खड़े नहीं रह सकते, तथा वायुके न रहनेसे प्राण नहीं रहसकता, वैसे ही सूर्यके न रहनेसे नेत्रभी नहीं देख सकते, इत्यादि परन्तु यह कैसे माना जाय कि समुद्रके विना मूत्राशय नहीं रह सकता? कहां? समुद्र? कहां मूत्राशय? इनमें तो परस्पर कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। समाधान हे सौम्य! मूत्राशय कहते हैं, मूत्रकी थैलीको, जिसमें जलका कार्य मूत्र भरा रहता है, कार्य, कारणसे पृथक नहीं होता, अतः मूत्र जल रूप ही है। जलकी उत्पत्ति समुद्रसे ही है, क्योंकि मेघ लोग समुद्रसे ही जल खींचकर बरसते हैं, जिससे व्रिहि, वनस्पति,

लता, वृक्षादि और प्राणियोंकी भी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है। यद्यपि वृक्षादि भी जीव ही हैं, पूर्व जन्मके निकृष्ट कर्मोंका दुःख रूपी फल भोगनेके लिये भोग-योनि धारण किये हैं—न कि कर्म-योनि मनुष्य की। बिना मनादि इन्द्रियों तथा प्राणके दुःख-सुख कोई भोग नहीं सकता। तथापि प्रगट रूपमें इनकी इन्द्रियां नहीं रहती, किन्तु सुक्ष्म रूपमें रहती हैं, अतः प्राणियोंको पृथक् कहा गया। इस प्रकार हे शिष्य! बिना समुद्रके वर्षा नहीं होती, वर्षाके बिना रसवाले पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती, बिना रसयुक्त पदार्थ भक्षण किये मूत्र नहीं हो सकता, और बिना मूत्रके मूत्राशय स्वयं नष्ट है। इस प्रकार जैसे ब्रह्मांडमें वायु सामान्य रूपसे सर्वत्र व्यापक है, वैसे ही इस शरीरमें व्यान सर्वत्र व्यापक है। यदि वह आकाशकी वायु न रहे, तो यह व्यान नष्ट हो जाय। इस प्रकार हे प्रिय! ब्रह्मांडके हर एक अवयव, पिण्डके हर-एक अवयवको आश्रय देनेसे आधार रूप हैं। शास्त्रोंमें ब्रह्मांडके इन्हीं अवयवोंको अधिदैव तथा पिंडके इन अवयवोंको अध्यात्म कहा गया है। शङ्का—हे कृपालो! यदि प्राणियोंके शरीरको ब्रह्मांडने ही आश्रय देकर रखा है, तो इस ब्रह्मांडके रहते हुए शरीरका नाश क्यों होता है? जिसे मृत्यु कहते हैं। समाधान! हे प्रिय! प्रारब्ध भोगके नष्ट हो जानेसे स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है, परन्तु, अंतः करण, प्राण और इन्द्रियां मिलकर जो सूक्ष्म शरीर कहलाता है उसका नाश नहीं होता। हे शिष्य! जब तक गुरु द्वारा आत्माका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, तब तक एक ही सूक्ष्म शरीर हर एक योनियोंमें भ्रमण करता रहता है, नाश स्थूल ही शरीरका हुआ करता है। हे प्रिय! यदि ब्रह्मांड न रहे, तो बिना प्रारब्धके गत हुए ही स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर नष्ट हो जायेंगे। और शास्त्रोंसे ऐसा पता भी लगता है कि परमात्माने पहले ब्रह्मांडको उत्पन्न करके ही, पुनः पिण्डको उत्पन्न किया। शंका—हे भगवन्! आत्माके अपरोक्ष ज्ञान होनेमें आपने केवल गुरु ही को हेतु कहा, और मैंने पूर्व जन्मके संस्कारानुसार अन्तःकरण, ईश्वरकी अनुग्रहता, शास्त्र और गुरु इन चारोंको सुना है। समाधान—हे वत्स तुम्हारा कहना सत्य

है, यद्यपि ज्ञानका हेतु चारों हैं, तथापि मुख्य हेतु गुरु ही है, क्योंकि पूर्व जन्मके संस्कारानुसार ईश्वरके अनुग्रह करके अचल श्रद्धापूर्वक साधनमें लगा हुआ साधकका जब अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब साधन चतुष्टय पूर्वक गुरू द्वारा ही शास्त्रका श्रवण करता है, क्योंकि शास्त्र समुद्रके तुल्य हैं, जैसे समुद्रमें मीठा और खारा दोनों जल रहते हैं, जिन्हें पानकर प्राणी महाक्लेशको उठाते हैं, क्योंकि विना मेघके वे प्राणी खार जलको त्याग कर मीठाजल ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हैं और उसी समुद्रमें से मेघ-मुखमें आया हुआ जल, मीठा होनेके कारण वृष्टि द्वारा अखिल विश्वका जीवन होता है। वैसे ही शास्त्र रूपी समुद्रमें ज्ञान रूपी मीठा जल और कर्म-काण्ड रूपी खारा जल भरे हैं, इन दोनों जलों को विलग-विलग करनेमें सिवा ब्रह्म-निष्ठ गुरुके दूसरा समर्थ नहीं है, अतः विना गुरुके कर्म—काण्ड रूपी खारा जल ग्रहण करके प्राणी जन्म मरण रूपी महाक्लेशको अनुभव करते हैं, और गुरु मुखसे निकला हुआ ज्ञान रूपी मीठा जल श्रवण रन्ध्रसे पान करके जिज्ञासु पुरुष आत्माका अपरोक्ष ज्ञान द्वारा श्वाश्वत सुखका अनुभव करते हैं। इसलिये हे शिष्य! आत्माके साक्षात्कारमें गुरू ही मुख्य हेतु है। इस प्रकार शिष्यके शङ्काका समाधान करके महात्मा पुनः सृष्टि कथन करने लगे। हे वत्स! इस प्रकार पंच महाभूतोंसे पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण और पांच प्राण, ये उन्नीस तत्वोंका समुदाय उत्पन्न हुआ, जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। और इसीको अपँचीकृत सृष्टि भी कहते हैं। पूर्वोक्त प्रकारसे अपंचीकृतसे तो उन्नीस तत्वोंका सूक्ष्म शरीर हुआ। अब जिस प्रकार पंचीकृत सृष्टिसे स्थूल शरीरकी उत्पत्ति हुयी, सो वर्णन करता हूं। दृष्टांत—जैसे पांच साथी हैं, और पांचोंके पास भिन्न-भिन्न प्रकारके पाँच फल हैं। प्रत्येक साथीको मनमें इच्छा हुयी कि इस फलको अकेला न खाऊं। वल्कि इन अपने चारों साथियोंको भी बाँटकर खाऊं। परन्तु मैं विशेष लूंगा, क्योंकि यह फल मेरा है। इस प्रकार विचार कर प्रत्येक साथी अपने—अपने फलोंके दो-दो बराबर हिस्से

किये। उसमें से एक-एक हिस्सेको जो आधा हैं (पूर्व हिस्से ; प्रत्येक ने अपने लिये रखे। और जो शेष आधा हिस्से पाँच हिस्से हैं, उनको चार वरावर भागोंमें बांट करके अपने चारों साथियोंको दे दिये। इस प्रकार पांचों फलोंमें से पांचों साथी पा गये, परन्तु प्रत्येक साथी के पास अपने-अपने फलका बड़ा आधा भाग रहा, और अन्य चारों फलोंका थोड़ा-थोड़ा हिस्सा मिलकर (जो पहिले पा चुके हैं) पाँच-पांच भाग सभीको मिले, बस, इसीको पंचीकरण सृष्टि कहते हैं। पूर्वोक्त प्रकारसे आकाशके दो प्रकार हिस्से किये गये। और उसमेंसे दूसरा आधा हिस्सा लेकर उसके चार वरावर भाग करके चार जगह रख दिये गये। अब चार छोटे-छोटे भाग थे, और पहिला बड़ा भाग आधा लेकर पांच हिस्से पाँच जगह हो गये। इसी प्रकार वायुके भी दो वरावर भाग करके, उसमेंका एक भागके चार वरावर भाग कर दिये गये। अब वायुका भी पहला हिस्सा लेकर पांच हिस्से हो गये। इसी प्रकार अग्नि आदि सब तत्वोंकोको करके, पांचो तत्वोंके पाँचो भागोंको पांचों तत्वोंके पाँचों भागोंमें मिला दिया गया। परन्तु इस युक्तिसे मिलाया गया कि पांचोंका पांचों बड़ा आधा भाग अलग ही-अलग रहें, अर्थात् दो बड़े भाग एक जगह न पड़ें।

इसी प्रकार पांचोंमें पांचों तत्व मिलकर स्थूल शरीर बना। जहां आकाशका बड़ा हिस्सा पड़ा, वहां शरीरमें पोलापन (खोखला) हुआ। जहां वायुका बड़ा भाग पड़ा, वहां त्वचा हुई। जहां अग्निका बड़ा भाग पड़ा; वहां जठर हुआ। जहाँ जलका बड़ा भाग पड़ा, वहां रुधिर हुआ। और जहाँ पृथ्वीका बड़ा भाग पड़ा, वहां अस्थि हुई। पांचो तत्वोंमें पांचो तत्व मिलनेके कारण प्रत्येक तत्वसे पांच पांच प्रकृतियां हुयीं, जो स्थूल शरीरके अन्तर्गत ही हैं। जैसे शोक, मोह, काम, क्रोध और लोभ, ये आकाशके हैं। चलन, वलन, धावन, प्रसारण और आकुंचन, ये वायुके हैं। क्षुधा, पिपासा, निन्द्रा, क्लान्ति और तेज, ये अग्निके हैं। लाला (लार) पसीना, रुधिर, मूत्र और वीर्य, ये जल के हैं। अस्थि, नाड़ी, नख लोम और केश, ये पृथ्वीके हैं। हे शिष्य !

अपंचीकृतसे सूक्ष्म शरीर और पंचीकृतसे स्थूल शरीर होता है। सूक्ष्म स्थूल दोनों मिलकर मनुष्यका शरीर होता है, और अज्ञानके कारण शरीर कहा गया है। क्योंकि सूक्ष्म—स्थूल मय पिंड तथा बृह्मांड पुरुषके अज्ञान ही से भासता है, अथवा उत्पन्न हुआ है। हे प्रिय! इन तीन शरीरोंमें पांच कोश हैं. कोश कहते हैं म्यानको। जैसे म्यान में तलवार रहती है, वैसे ही यह आत्मा इन पांच कोशोंमें व्यापक है। प्रथम यह स्थूल शरीर ही अन्नमय कोश है, क्योंकि माता-पिता करके भक्षण किया हुआ जो अन्नका परिणाम रज वीर्य है, उसीसे इस स्थूल शरीरकी उत्पत्ति होती है, और अन्न करके ही इसकी वृद्धि होती है, पुनः अन्नमें ही यह लय हो जाता है। शंका? हे भगवन्! यह स्थूल शरीर अन्नमें कैसे लय होता है? समाधान—हे शिष्य शरीरांत होने पर इस स्थूल शरीरकी तीन परिणाम होती हैं। जला देनेसे भस्म, गाड़ देनेसे कीट और जलमें छोड़ देनेसे विट कहिये विष्टा हो जाता हैं। हे शिष्य! यह पृथ्वी प्राणियोंका भोग्य होनेसे अन्न ही है, और यह स्थूल शरीर जला देनेसे भस्म होकर पृथ्वीमें ही मिल जाता है। जलमें छोड़ देनेसे जल जन्तु खा जाते हैं। जल जन्तुओंका शरीर भी अन्नमय होनेसे, उनके उदरमें गया हुआ यह स्थूल शरीर भी अन्न ही हो जाता है, पुनः विष्टाके रूपमें होकर अन्न जो पृथ्वी है, उसमें लय होकर अन्न ही हो जाता है। और पृथ्वीमें गाड़ा हुआ भी यह स्थूल शरीर कीटोंका जो शरीर अन्न है, उसमें मिलकर अन्न ही हो जाता है। इस अन्नमय कोशके भीतर दूसरा पांच कर्मेन्द्रियोंके सहित प्राणही, प्राणमयकोश है। यहां कर्मेन्द्रियां जड़ हैं तथा प्राण भी जड़ है और प्राण स्वयं श्वांस प्रश्वांस रूपी कर्म करता हुआ कर्मेन्द्रियोंसे भी कर्म कराता है, अतः कर्मेन्द्रियों सहित प्राणमय—कोश कहा गया। यह स्थूल शरीर प्राण करके व्याप्त है, इसी प्राणके निकल जाने पर यह शरीर अमंगलसा मृतक होजाता है, यही प्राण सुषुप्ति अवस्थामें सम्पूर्ण त्रिपुटियों केलय हो जाने परभी इस स्थूल शरीरका रक्षा करता है हे शिष्य? एक समय शरीर की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मिलकर, इस बातके निर्णयके लिए, कि हमलोंगोंमें कौन श्रेष्ट है प्रजापति केपास गयीं?

प्रजापतिने कहा — जिस एकके निकल जाने से तुम सभी निकलेसे हो जाओ और शरीर — अमंगलसा प्रतीत होने लगे , तो जानना कि वही श्रेष्ट है इस प्रकार प्रजापतिके वचनको श्रवण कर प्रथम नेत्र इस स्थूल शरीरसे निकलकर एक वर्षके वाद फिर वापस आकर अन्य इन्द्रियोंसे पूछा — तुम लोग हमारे विना कैसे जिते रहे ? इन्द्रियोंने कहा—जैसे अन्धा प्राणी जीवित रहता, वैसे ही हम लोग जीवित रहे। फिर वाणी भी स्थूल शरीरसे निकल कर गयी, और एक वर्षके वाद वापस आकर पूछा—तुम लोग हमारे विना कैसे रहे ? इन्द्रियोंने कहा—जैसे गूंगा (मूंक) प्राणी रहते हैं, वैसे ही हम लोग रहे। इसी प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियां एक—एक वर्ष पर्यन्त वाहर जा-जाकर लौट आयीं, तौ भी शरीर अमंगल सा न हुआ तव फिर जब प्राण निकलने लगा, तब तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें खलवली मच गई और वे व्याकुल होकर प्राणके साथ ही निकलने लगीं। तव प्रार्थना करने लगी — हे प्राण ? हममें तुम्हो श्रेष्ठ हो , हमलोगोंके तुम्हीं स्वामी हो , इसस्थूल - शरीरसे मत निकलो, तुम्हारे निकलनेसे हमलोगों को स्थिति भंगहोना चाहती है, तथा धैर्य भी छूट जाता है, तुम्हारे न रहनेसे हमलोग क्षण मात्रभी नहीं रहसकतीं! इस प्रकारकी अनेक प्रार्थना करनेपर प्राण पुनः अपने स्थान पर स्थित हुआ तव इन्द्रियांभी अभिमान रहित होकर अपने - अपने स्थानपर आनन्द पूर्वक स्थित होगयीं। इस प्राणमय कोशके भीतर ज्ञानेन्द्रियों सहित तृतीय मनोमय कोश है। यहमन श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि - विषयोंका ज्ञान करता है , अतः ज्ञानेन्द्रियोंके सहित मनको मनोमय कोश कहागया। हेप्रिय ? यह मनही बंध मोक्षका कारण है। विषयों में आसक्त रहने वाला जो वासनात्मक (अशुद्ध) मन है, सोतो वंधन कहिये जन्म — मरणका हेतु है। और विषय वासनासे रहित जोआत्म - संकल्पवाला शुद्ध मन है, सोजन्म — मरणसे रहित मोक्षका हेतु है। इस मनोमय कोशके भीतर ज्ञानेन्द्रियोंके सहित जो वुद्धि है वही चतुर्थ विज्ञानमय कोश है। हेप्रिय ! प्रथम यह मन श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा जब शब्दादि विषयोंको - ग्रहणकरता है, तवतो मनोमयकोश कहलाता है,

और जब बुद्धि द्वारा - निश्चय - (निर्णय) करनेपर किये शब्दादि विषय ग्राह्य हैं, अथवा अग्राह्य ? ग्रहण अथवा त्याग में प्रवृत होता है, विज्ञान मय कोश कहलाता हैं यह विज्ञानमय कोश पूर्वोतः तीन कोशोसे श्रेष्ट है, क्योंकि इस शरीरमें बुद्धि श्रेष्ट है । बुद्धि-हीन पुरुषको किसी कार्यमें सफलता नहीं मिलती। बुद्धिका जैसा निश्चय रहता है, पुरुष उसी गतिको प्राप्त होता है । इस विज्ञान-मय कोशके भीतर आनन्दमय कोश है। जिस समय पूर्वोक्त चारको शोका अभाव रहता है, अर्थात् जिस समय मनादिके चार अन्तःकरण, श्रोत्रादिक पंच ज्ञानेंन्द्रियां और वाकादिक पंच कर्मेन्द्रियां, ये चतुर्दश करण अपने विषय और देवताओंके सहित अज्ञान अंशमें लय रहते हैं, और उस तमोगुण प्रधान अज्ञान अंशमें आरूढ़ आत्मा अपने आनन्द स्वरूपका भोग करता है, उसी कालमें, वह आनन्दमय कोश कहलाता है । हे प्रिय ! यह अविद्यांश विशिष्टचेतन जो आनन्दमय कोश है, वही चार कोशोंका कारण है, अर्थात् उत्पन्न करनेवाला है। अतः पूर्वके चारों कोशोंसे यह उत्कृष्ट है। जैसे पिंजरेमें पड़ा हुआ पक्षी कष्टका अनुभव करता है, वैसे ही इन कोशोंमें पड़ा हुआ यह जीवात्मा जन्म—मरण, जरा-व्याधि, गर्भ, इत्यादि क्लेशोंका अनुभव करता है । हे शिष्य ! यदि तूं पूर्वोक्त क्लेशोंसे रहित होना चाहता है, तो कारण अज्ञानको नष्टकर।

प्रश्न—हे गुरो ! कारण अज्ञानका नाश कैसे हो सकता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! वास्तवमें जो अज्ञान सत्य होता, तो उसका नाश नहीं हो सकता, परन्तु यह अज्ञान तो तेरे विषे कल्पित है। कल्पित वस्तु अधिष्ठानके ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, जैसे सीपीके ज्ञान से चाँदीकी भ्राँति निवृत हो जाती हैं। इस कल्पित अज्ञानका अधि-ष्ठान जो कूटस्थ है, सो तूं ही है, और अधिष्ठानका शुद्ध चेतनसे मुख्य-सामानाधिकरण होनेसे कुछ भेद नहीं, जैसे मठाकाशसे और महाकाशसे भेद नहीं होता । तेरा स्वरूप जो कूटस्थ हैं, उससे जब शुद्ध चेतनसे भेद नहीं है, तो तुझसे भी शुद्ध चेतनसे अभेद ही है । हे प्रिय ! जिस कालमें ऐसा तूं जान जायगा कि "अहंब्रह्मास्मि" मैं

ब्रह्म हूं, उसी कालमें तीन शरीरके सहित पंच कोशोसे तेरी आसक्ति छूट जायगी, और अपने को तू इनसे अलग समझेगा। एवं ये मिथ्या प्रतीत होने लगेंगे। शँका ? हे कृपालो ! ये पंच कोश तीन शरीरके सहित कैसे हैं, अर्थात् वे तीन शरीर कौन—कौनसे हैं ? समाधान—प्रथम जो अन्नमय कोश है, सो तो स्थूल शरीर है, जो प्रथम कह चुके हैं। और अंतका जो आनन्दमय कोश है, सो कारण शरीर है। और बीचके जो प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमय ये तीन कोश हैं, सो सूक्ष्म—शरीर हैं, परन्तु याद रखना कि आत्माके व्यापक होनेसे ही इनकी प्रतीति अथवा इनके कार्य हो रहे हैं। शास्त्रोंमें सृष्टि अनेक प्रकारसे कही गयी है। तैतरीय श्रुतिमें वर्णित है कि प्रथम उस परमेश्वरसे आकाश हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधि और औषधिसे प्राणी हुए। और वृहदारण्य श्रुतिमें तेज, जल, पृथ्वी इन तीन से ही त्रिवृतकरण पूर्वक सृष्टि कही गयी है,तथा सांख्य शास्त्रमें तो प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति और न प्रकृति न विकृति, ये चार विभाग करके सृष्टिका वर्णन है। कोई पदार्थ जिससे उत्पन्न हो, उस कारणको प्रकृति कहा है, और उत्पन्न हुए कार्यको विकृति कहा है। जो स्वयं किसीसे उत्पन्न होकर दूसरेको भी उत्पन्न करे, उसे प्रकृति—विकृति कहा है। जो न किसी से उत्पन्न होवे और न किसी को उत्पन्न करे, उसे न प्रकृति न विकृति कहा है। जिस समय रज—सत्व-तम, ये तीनों गुण सम (बराबर) रहते हैं, उस समय प्रकृति साम्यावस्थाको प्राप्त रहती है-"मायां तु प्रकृति विद्यात्" माया को ही प्रकृति जाने। एक ही तत्वको सांख्य में प्रकृति और वेदान्तमें माया कहते हैं। सांख्य शास्त्रमें प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि तथा स्वतन्त्र माना है। इन दोनोंसे परे दूसरा तत्व नहीं है। पुरुष और प्रकृतिका संयोग ही सृष्टिका हेतु हो जाता है। जब प्रकृति पुरुषका संयोग ही सृष्टिका हेतु हो जाता है। जब प्रकृति पुरुषका संयोग होता है, तो प्रकृति की साम्यविस्था भंग होकर गुण न्यूनाधिक होने लगते हैं, और विषम सृष्टि निर्माण हो जाती है।

पहले मूल प्रकृतिसे बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धिसे अहंकार होता है। अहंकारसे दो वर्गोंमें सृष्टि होती है। अहंकारके तमोगुणसे पंच तन्मात्रा होते हैं, जिन्हें शब्द-स्पर्श-रूप रस और गंध, कहते हैं, उन शब्दादिकोंसे क्रमशः आकाश, वायु,अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पांच महाभूत होते हैं। और अहंकारके सतोगुणसे दूसरी श्रेणी—पंच ज्ञानेन्द्रिय पंच कर्मेन्द्रिय और एक मन ये एकाद तत्व उत्पन्न होते हैं। इन सबोंकी उत्पत्ति क्रममें हीर जो गुणका समावेश कर दिया है। ये सब मिलकर चौवीस तत्त्व होते हैं। इनमें से पंच ज्ञानेंद्रियां, पंच कर्मेंद्रिया, पंच प्राण और एक मन, ये सारे "हविकृति" (विकार). हैं, क्योंकि इनसे कोई तत्व उत्पन्न नहीं हुए हैं। बुद्धि, (महतत्व) अहं-कार और शब्दादिक पंच तन्मात्रा, ये सात 'प्रकृति—विकृति" हैं। मूल-प्रकृति "केवल प्रकृति" है, और और पच्चोसवां पुरुष न "प्रकृति है न विकृति'। इस सांख्यमें पुरुषको प्रकृतिसे उदासीन—असंग हो जाना, अथवा प्रकृतिका पुरुपसे स्वयं छुटकारा हो जाना ही मोक्ष माना है। और वेदान्त शास्त्रमें तो प्रकृति-पुरुषको स्वतन्त्र न मानकर एक ही परमेश्वरको कनिष्ठ तथा श्रेष्ठ विभूति कहा है, जिसको कैवल्य अमृत कहते हैं। शास्त्रोंमें इस पुरुषको ही ईश्वर, बीज, सर्वज्ञ, कूटस्थ, साक्षी आदि नामों करके निर्देश किया है। और प्रकृतिको को शब्द-ब्रह्म योनि, माया, अज्ञान इत्यादि नामोंसे निर्देश किया है। हे शिष्य! इस प्रकार शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे सृष्टि वर्णित है। शंका? हे भगवन्! शास्त्र तो सभी प्रमाणित माने जाते हैं। ऐसा विरोध सा वर्णन क्यों हैं? एक दूसरेसे विरोध होनेसे सभी शास्त्र अप्रमाणित हो जाना चाहिये। समाधान—हे शिष्य! शास्त्र कोई भी न तो परस्पर विरोध हैं और न अप्रमाणित हो सकते। सब शास्त्र एक ही परमतत्वका लक्ष्य करके कथन करते हैं। जैसे किसी पथिक को कलकत्तेसे प्रयाग जाना है। किसीने उसे गंगाजीके किनारेका ही मार्ग बता दिया। किसीने, पटना तक, किसीने काशी तक, किसीने प्रयाग तक मार्ग—बता दिया। किसीने रेल द्वारा ही जाने को कहा,

देखनेमें तो सबके कथन भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु विचार करने पर कुछ भी भिन्नता नहीं है—सब यथार्थ ही है। क्योंकि सभी एक ही गंतव्य स्थानके लिये मार्ग बता रहे हैं। यदि उस पथिकसे एक ही बार सपूर्ण मार्ग तथा मार्गकी घटनायें सुना दी जाँय, तो बेचारा निराश होकर एक पग भी आगे न बढ़ावेगा। और छटपटा कर मर जायेगा। पर यदि थोड़ा-थोड़ा चलता जाय और कोई थोड़ा-थोड़ा मार्ग बताता जाय तो सुखसे ही चला जायगा। प्रयाग जाकर बीच मार्गके सभी नगर उसे दिखायी देने लगेंगे। उसी प्रकार कोई शास्त्र स्थूल सृष्टि का वर्णन करता है, जैसे प्रायः पुराण। कोई सूक्ष्म-सृष्टिका, जैसे न्याय इत्यादि। कोई कारणसे सृष्टिका वर्णन करता है जैसे सांख्य। कोई स्थूल-सूक्ष्म कारण इन तीनोंसे परे, निरुपाधिक परम-कैवल्य तत्व का वर्णन करता है, जैसे वेदान्त। इस प्रकार सभी शास्त्र परमानन्द की प्राप्ति और कारण सहित प्रपंच अनर्थकी निवृत्तिके लिये प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त शास्त्र सबसे आगे बढ़ा है। वेदान्त शास्त्रके मनन द्वारा जब पुरुषको कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है, उसी समय उसका यत्न शेष हो जाता है। सम्पूर्ण शास्त्रोंका अन्त हो जाता है। अपने ही में तृप्त हो जाता है। द्वैत दृष्टिका नाश हो जानेसे कोई शास्त्र अथवा कोई पदार्थ विरोध सा प्रतीत नहीं होते। शँका? हे भगवन्! सिद्धान्तमें कोई भेद भले ही मत हो, किन्तु सृष्टि क्रममें तो कुछ-कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है? समाधान—हे शिष्य! सृष्टि क्रममें अन्तर-पड़नेका कारण, तुमसे कहता हूं, सावधान होकर श्रवण करो। इस जगतको अनिर्वचनीय मायाने देश तथा कालसे रहित शुद्ध-ब्रह्म विषे रचा है। जैसे स्वप्नावस्थामें प्राणी हाथी, घोड़ा, रथ इत्यादि अपने कंठमें स्थित जो नाड़ी है उसीमें देखते हैं। कैसी है वह नाड़ी? बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। जिस नाड़ीमें एक शुची (सुई) के भी प्रवेश करनेका देश (स्थान) नहीं है, उस नाड़ीमें रथादिक पदार्थ दिखायी देते हैं। और क्षण मात्रमें चीर कालके पदार्थ दीखायी देते हैं। तथा

क्षण मात्रमें ही पिता पुत्र दिखायी देते हैं। ये सब पदार्थ क्रमके बिना ही उत्पन्न होते हैं। यदि क्रमसे होते तो रथादिक पदार्थोंके ठहरनेके लिये पर्याप्त देश (स्थान) चाहिये तथा प्रथम पिता और बादमें पुत्रकी उत्पत्ति होनेमें विशेष समय (काल) भी चाहिये, सो तो होता ही नहीं। जैसे मदारी क्षण मात्रमें अनेक असत्य पदार्थोंको दिखाकर शीघ्र ही गुप्त (अन्तर्धान) कर देता है। वैसे ही यह माया उस देश-काल-रहित ब्रह्ममें अखिल ब्रह्मांड रचकर क्षण मात्रमें सत्य सा प्रतीत करा देती है। जैसे स्वप्नके पदार्थ क्रमके बिना ही उपजते हैं और प्राणी क्षणमात्रमें ही चिर कालका अनुभव करते हैं। वैसे ही यह जगत क्रमके बिना ही हुआ है और अनादि सा भासता है। हे प्रिय जैसे बालक विनोदार्थ मिट्टीका घोड़ा बनाते हैं और उसका कान, पूंछ इत्यादि अङ्ग आदि टेढ़े भी रहते हैं, तो उन्हें सीधा नहीं करते, क्योंकि वे बालक जानते हैं कि यह घोड़ा सत्य नहीं है, किन्तु झूठा है। और खेलके समाप्त हो जाने पर उसे बिगाड़ ही देना है। वैसे ही जब यह जगत मिथ्या ही है तो इसकी रचनाका क्रम ही क्या हो सकता है। परमात्माका बोध करनेके लिये शास्त्र किसी प्रकारसे जगतको खड़ा (तैयार) कर देते हैं, ताकि इस परिवर्तन शील संसारको देखकर सम-रस—स्थिर वस्तुको जाननेकी इच्छा हो तथा इसे देखकर इसके रचयिता तथा इसके अधिष्ठानका पता लगाकर जिज्ञासु परमानन्दको प्राप्त हो। जैसे घट-शराव आदि मृतिका—पात्रोंको देखकर उनके निमित्त कारण-रचयिता कुलाल तथा उनके उपादान कारण मृतिका तथा उनके आधार पृथ्वीका पता लगाया जाता हैं। हे प्रिय! इस अखिल विश्वको प्राणियोंके भोग निमित्त ही परमेश्वरने बनाया। अतः जो कुछ स्थावर जंगम पदार्थ हैं, वे सभी प्राणियोंके भोग्य ह।

प्रश्न ? हे भगवन्! इस अखिल विश्वको प्राणी किस प्रकार भोगते हैं ?

उत्तर--हे शिष्य! इस जगतको प्राणी जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं करके भोगते हैं। उसे आगे वर्णन करता हूं।

श्रीगुरुरुवाच

दोहा

करण चतुर्दश प्राण मुख, स्थूल व्यष्टि जेहि भोग।
भोक्ता विश्व बखानिये, जो जागृतके याग ॥१॥

अर्थ—चतुर्दशकरण और पांच-प्राण मिलकर उन्नीस-मुख हैं जिसके, और स्थूल व्यष्टि कहिये-अखिल ब्रह्मांडके सब स्थूल पदार्थ नहीं, किन्तु प्रारब्धानुसार न्यूनहीं स्थूल पदार्थ भोग हैं जिसके, और जागृत अवस्थाके योग कहिये सम्बन्धसे भोक्ता है, उसको विश्व कहते हैं।

भावार्थ—हे शिष्य! एक ही जीवात्मा पूर्व-कृत शुभा-शुभ कर्मोंके वश हुआ जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको अधीनवश धारण कर सुख-दुःखको भोगता है। करण कहते हैं, जिससे कार्य किया जाय अर्थात् कर्म करनेकी सामग्री को। मनुष्यको कार्य करनेके लिए चतुर्दश करण-सामग्री मिली है। उसमें अन्तः कहिये जिससे भीतरसे ही करण कहिये कार्य किया जाय; बाह्य प्रतीत न हो--उन्हें अन्तःकरण कहते हैं। जैसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। और जिससे बाह्य कार्य किया जाय, उन्हें बाह्य करण कहते हैं। जैसे पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां। ये सब मिलकर चतुर्दश करण हुए। यह जीवात्मा, जागृत अवस्थामें चतुर्दशकरण और चतुर्दश करणोंके देवताओंकी सहायतासे तथा, प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान, इन पांच प्राणोंकी सहायतासे स्थूल पदार्थोंको भोगता है। इसलिये जाग्रत अवस्थामें स्थूल भोग कहलाता है। यहां चतुर्दश करणोंके देवताओंका वर्णन करते हैं। मनका देवता चन्द्रमा, बुद्धिका देवता बृहस्पति, चित्तका देवता वासुदेव, अहंकारका देवता रूद्र, नेत्रका देवता सूर्य, श्रोत्रका देवता दिग्पाल, त्वचाका देवता वायु, जिह्वाका देवता वरुण घ्राणका देवता अश्विनी कुमार, वाक्का देवता अग्नि, हाथका देवता इन्द्र, पैरका देवता विष्णु, लिंगका देवता प्रजापति, और गुदाका देवता यमराज।

चतुर्दश कारणों द्वारा जीवात्मा जो-जो काय करता है, अब उनका वर्णन करते हैं। मनसे संकल्प विकल्प करता है, बुद्धिसे निश्चय करता है—चितसे चिंता करता है, अहंकारसे अभिमान करता है, श्रोत्रसे श्रवण करता है, त्वचासे स्पर्श करता है, नेत्रसे देखता है, जिह्वासे रस चखता है, घ्राणसे गंध ग्रहण करता है, वाक्से बोलता है, हाथसे ग्रहण करता है, पैरसे गमन करता है, लिंगसे मूत्र त्याग करता है, और गुदासे मल त्यागता है, इस प्रकार जाग्रत अवस्थामें यह जीवात्मा विश्व संज्ञाको प्राप्त हुआ, नेत्र इन्द्रियपर निवास करता है, और स्थूल पदार्थोंको भोगता है।

दोहा

सूक्ष्म व्यष्टि संघातका, भोक्ता मुख उन्नेस ॥
तैजस नाम बखानिये, स्वप्न अवस्था धीश ॥२॥

अर्थ—स्वप्न अवस्था धीश कहिये जो स्वप्न अवस्थाका स्वामी है, पूर्वोक्त उन्नीस मुखोंसे व्यष्टि—सूक्ष्म कहिये प्रत्येक शरीर अन्तः करणमें जो स्वप्न अवस्थामें भिन्न-भिन्न सृष्टि होती है, उसका जो भोक्ता है, उसको तैजस नाम करके कहते हैं।

भावार्थ—जब इस जीवात्माका जागृत अवस्थाका भोग समाप्त होकर स्वप्नावस्थाका भोग संमुख होता है, तब संपूर्ण इन्द्रियां थककर मनका आश्रय लेती हैं, तब उस वासनात्मक मन करके युक्त हुआ यह जीवात्मा विशेष रूपसे कंठमें जो एक सूक्ष्म नाड़ी है, उसका आश्रय लेती है। वहां जागृत अवस्थाके समान ही सूक्ष्म-सृष्टि रचकर उसे भोगता है, वहाँ सूक्ष्म सृष्टि होनेसे भोग भी सूक्ष्म ही रहता है। उस समय यह जीवात्मा तैजस नाम करके कहा जाता है, और कंठस्थानवाला कहलाता है।

दोहा

भोक्ता आनन्द रूपको, जहां व्यष्टि अज्ञान ॥
तात सुषुप्ती होत जहँ, प्राज्ञ नाम तहँ जान ॥३॥

अर्थ—व्यष्टि अज्ञान कहिये अज्ञान अंश जहाँ-जिस हृदयमें रहता है, और जब सुषुप्ति अवस्था होती है, वहां ही—यह जीवात्मा अपने आनन्द स्वरूपका भोक्ता होता है, और वहाँ इसका प्राज्ञ नाम समझना।

भावार्थ-हे शिष्य जैसे पक्षी आकाशमें उड़ते-उड़ते थक जाता है, तब शीघ्र ही अपने घोसलेका आश्रय लेकर आनन्द पूर्वक अपने श्रमको मिटाता है। वैसे ही जब यह जीवात्मा पूर्वार्जित कर्मों करके प्रेरित हुआ जागृत-स्वप्नके स्थूल-सूक्ष्म भोगोंको भोगता हुआ श्रमको प्राप्त होता है, तब हृदय रूपी वृक्षपर अज्ञान रूपी घोसलेका आश्रय लेकर आनन्दको प्राप्त होता है, तब हृदयस्थान और प्राज्ञ नाम करके कहा जाता है। और पूर्वकृत कर्मों करके प्रेरित हुआ जागृत तथा स्वप्न अवस्थाको प्राप्त होता है। यहाँ कोई यह नियम नहीं कि सुषुप्ति अवस्थासे जागृत ही अवस्थामें आता है; अथवा स्वप्न ही अवस्थामें आता है। कभी तो जागृता अवस्थाके भोग-उदय होनेपर जागृतावस्थामें आता है, और कभी स्वप्नावस्थाके भोग-उदय होनेसे स्वप्नावस्थामें आता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्थाके आनेपर जागृतावस्थाके सम्पूर्ण पदार्थोंका तथा इन्द्रियोंका वासना रूप संस्कार केवल मन विषे रह जाता है, उसी प्रकार सुषुप्त्यावस्था आनेपर अंतः-करण तथा बाह्यकरणका संस्कार रूप बीज केवल अज्ञान अंशमें रह जाता है। यह सुषुप्ति-सुख अति पुण्यके प्रभावसे प्राप्त होता है। हे शिष्य! यह जीवात्मा रूपी पक्षी कर्म रूपी रज्जुमें बंधा हुआ तीनों अवस्थाओंमें भ्रमण करता रहता है, और कभी कीट पतंगको प्राप्त होता है, कभी पशु, मनुष्यको प्राप्त होता है, कभी स्वर्ग लोकमें

देवताओंके शरीर धारण कर दिव्य सुखोंको भोगता है तो कभी ब्रह्मलोकमें जाकर निवास करता है। इस प्रकार घटी यन्त्रकी न्याईं भ्रमण करता रहता है। जिस प्रकार बन्दर इस डालीसे उस डाली पर भ्रमण करता हुआ कभी विश्रामको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही यह जीव कर्मकर चौराशी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता हुआ कभी विश्राम नहीं पाता है।

शंका—हे भगवन्! यह आत्मा तो इस शरीरमें सर्वत्र व्यापक है। यह आप पूर्व कह चुके हैं, तो यह कैसे माना जाय कि जागृतावस्थामें नेत्रपर तथा स्वप्नावस्थामें कंठमें और सुषुप्त्यावस्थामें हृदयमें रहता है।

समाधान—हे शिष्य जैसे सूर्यका प्रकाश सर्व रहता है, परन्तु स्वच्छ दर्पण, स्वच्छ जल तथा स्वच्छ मणि विषे ही दिखाई देता है। वैसे ही यद्यपि यह जीवात्मा इस शरीरमें सर्वत्र सम व्यापक है, तथापि जहाँ सतोगुण है, वहाँ ही ज्ञान होता। जागृतावस्थामें बाह्य स्थूल-पदार्थोंका ज्ञान नेत्र द्वारा ही विशेष रूप होता है और स्वप्नावस्थामें कंठकी नाड़ी ही विषे सूक्ष्म-सृष्टिका ज्ञान होता हैं और सुषुप्त्यावस्था में हृदयमें ही आनन्दका ज्ञान होता है। अतः तीनों अवस्थाओंमें तीन स्थान कहे गये। हे प्रिय! व्यष्टि उपाधिके भेद एक ही चेतन जीवात्माके स्वरूपमें पृथक-पृथक नाम करके कहा गया। अब उसी चेतनको समष्टि उपाधिके भेदसे पृथक-पृथक नाम करके वर्णन करता हूं।

❁ कवित्त ❁

जग स्थूल अखिल उपाधि है विराट कर
अखिल सूक्ष्म जग हिरण्यको जानिये।
मूला ज्ञान-कारण उपाधि जान ईश्वर की,
ताहीसे सूक्ष्म-स्थूल यह जग मानिये॥

त्यागीके उपाधि तीन चेतन स्वरूप शेष,
वाहीको तुरीय शुद्ध चेतन बखानिये।
श्रुति गुरु वाक्यसे जनित ज्ञानाकार वृत्ति,
तदाकार ताहीको समाधि सुख मानिये ॥१॥

अर्थ—समष्टि स्थूल कहिये सम्पूर्ण स्थूल पदार्थ जो संसार में हैं, वे विराटकी उपाधि हैं। तात्पर्य—सम्पूर्ण स्थूल सृष्टि, समष्टि-स्थूल कहलाती है, उस समष्टि-स्थूलमें व्यापक जो चेतन-भाग, वही विराट है। और समष्टि-लिंग कहिये सम्पूर्ण सूक्ष्म-सृष्टि, जो इस जगतमें है, उसे हिरण्य गर्भ की उपाधि जानो। और मूला ज्ञान कहिये मूल प्रकृत, जिसे माया कहते हैं, उसे ही ईश्वरकी उपाधि जानो। उसीसे सूक्ष्म-स्थूलमय जगत की उत्पत्ति होती है। तीनों उपाधियों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) को त्याग देनेसे, जो केवल चेतन रह जाता हैं, उसीको शुद्ध चेतन तुरीय कहते हैं। गुरु तथा वेद वाक्य के श्रवणसे जो वृत्ति ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होती है, वही वृत्ति तदाकार कहिये शुद्ध चेतन जो तुरीय, उसके आकारको धारणकर स्वयं लय हो जाती है। हे शिष्य उसीको समाधि सुख मानना।

भावार्थ—एक ही चेतन जिस समय पृथक-पृथक स्थूल पदार्थों को पूर्वोक्त उन्नीस सुखों द्वारा भोगता है, उस समय वही चेतन पृथक-पृथक विश्व नाम वाला होता है। और उसी चेतनको नानात्व दृष्टि त्यागकर सम्पूर्ण स्थूल पदार्थों के अन्तर्गत एक ही स्वरूपकी भावनाकी जाय, उसी कालमें वही चेतन विराट नाम वाला होता है, जिसे प्रजापति कहते हैं। और जिस समय एक ही चेतन पूर्वोक्त उन्नोस मुखों द्वारा सूक्ष्म-सृष्टिका पृथक-पृथक भोग करता है, उस कालमें वह एक ही चेतन नानात्व रूपसे तैजस नामवाला होता है। और उसी चेतनको नानात्व दृष्टि त्यागकर सम्पूर्ण सूक्ष्म-सृष्टिमें व्यापककी भावना करनेसे हिरण्यगर्भ नामवाला होता है, जिसे ब्रह्मा

कहते हैं। और एक ही चेतनको पृथक-पृथक अविद्या-अंशका भोक्ता रूप से भावना करनेसे, नाना प्राज्ञ नाम वाला होता है। और उसी चेतनको नानात्व दृष्टि त्यागकर, सम्पूर्ण अविद्यांश मिलकर जो मूला ज्ञान है, उसमें व्यापककी भावना करनेसे ईश्वर नाम वाला हो जाता है। हे सोम्य! इसी माया विशीष्ट ईश्वरसे उन्नीस तत्वोंकी सूक्ष्म-सृष्टि उत्पन्न हुयी, जिसका वर्णन प्रथम किया जा चुका है। और सूक्ष्म-विशीष्ट हिरण्य गर्भ से स्थूल विशीष्ट प्रजापति की सृष्टि हुई। हे शिष्य! माया विशीष्ट ईश्वरही भक्तों पर अनुग्रह करता है और हर एक युगमें अवतार लेकर श्रुतिस्मृति विहित धर्मकी स्थापना करता है, कल्पादिसे कल्पान्त तक जो कुछ होने वाला रहता है, सो सब कुछ पहलेही जानता रहता है, तथा संकल्प किया रहता है। हे प्रिय! शुद्ध सतोगुण प्रधान मायाकी उपाधि होनेसे ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः सब कुछ जानता रहता है, और सत्य संकल्प वाला होनेसे, इसका संकल्प व्यर्थ नहीं होता। प्राणियोंके पूर्व सृष्टिके अनुसारही उनके भोग निमित्त संकल्प करता है। अतः सम्पूर्ण जीवोंको सुख दुःखकी सामग्री उत्पन्न करके यथा- योग्य देश तथा कालमें सुख दुःख प्राप्त कराता हुआ भी बिकारी तथा अन्यायकारी नहीं होता; किन्तु सर्वदा निर्विकारी तथा न्यायकारी ही रहता है। ईश्वरको अपने स्वरूपसे विस्मृति कभी भी नहीं होती, अतः सब कुछ करता हुआभी असंग रहता है; कभी बन्धनको प्राप्त नहीं होता; सर्वदा मुक्त है। हे सोम्य! एकही चेतन कारण, सूक्ष्म और स्थूल, इन तीन उपाधियोंसे युक्त हुआ ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट संज्ञाको प्राप्त हुआ है। जब पुर्वोक्त तीनों उपाधियोंका नाश होजाता है, तो चेतनकी पूर्वोक्त तीनों संज्ञा मिटकर केवल शुद्ध चेतन रह जाता है, जैसे घटमठ उपाधियोंके नाशसे केवल एक महाकाश रह जाता है। जब श्रुति तथा गुरुके वाक्यको ग्रहण करके, शुद्ध चेतन का अपरोक्षज्ञान होकर, वृत्ति तदाकार हुयी लयको प्राप्त होजाती है, तो फिर जिज्ञासु अज्ञानको प्राप्त नहीं होता; किन्तु सर्वदाके लिए आनन्दमय हो जाता है।

एक ही चेतनमें उपाधि द्वारा चार भेद

चौपाई

विषयाकार वृत्ति जब होई।
विच प्रमेय चेतन है सोई॥

भावार्थ—अंतः करणका परिणाम जो वृत्ति है, सो जबनेत्रादि द्वारा बाहर निकल कर विषयाकार कहिये घटाकार, पटाकार, इत्यादि पदार्थमय होता है, तब घटाकार आदि वृत्तिमें आरूढ़ चेतनको प्रमेय चेतन कहते हैं।

चौपाई

इन्द्रिय लगि जब वृत्ति अरूढ़ा।
वर्णत ताहि प्रमाण अमूढ़ा॥

अर्थ—इन्द्रिय लगि कहिये अंतः करणसे निकलकर जब नेत्रादि इन्द्रियपर्यन्त वृत्ति जाती है उस वृत्तिमें आरूढ़ कहिये विशिष्ट चेतनको अमूढ़ कहिये ज्ञानी जन प्रमाण चेतन कहते हैं।

चौपाई

अंतःकरण विशिष्ट प्रमाता।
प्रमा नाम साक्षी विख्याता॥

अर्थ—अंतःकरण विशिष्ट चेतनको प्रमाता चेतन कहते हैं। अर्थात् जिस समय अंतः करण, परिणाम रूप वृत्तिको न प्राप्त हुआ हो, उस समयमें, उस अंतः करणमें जो चेतनभाग है, उसे प्रमाता कहते हैं। और साक्षी कहिये अंतः करणका अधिष्ठान अर्थात् जो अन्तः करणको आश्रय देता हुआ उस अन्तः करणको प्रकाशता है। वह चेतन प्रमा चेतन नाम करके विख्यात है।

भावार्थ—हे शिष्य ! अन्तः करणका परिणाम होनेसे यह वृत्ति स्वच्छ है। अतः यह वृत्ति जहाँ जहाँ जाती है, वहा हीं-वहाँ साक्षी (कुटस्थ) का प्रति विम्ब पड़ता है। क्योंकि साक्षीसर्वत्र व्यापक है। जव यह वृत्ति , वाह्य पदार्थोंके इन्द्रिय – संयोगसे अथवा पूर्व संसकार – वासना - के उदय होनेसे अन्तः करण रूपी जलाशयसे वीचि रूपमें प्रकट होकर नेत्रादि इन्द्रिय पर्यन्त—लम्याकारको धारण करती है, उसी कालमें साक्षीका पड़ा हुआ प्रति विम्व प्रमाण-चेतन करके कहा जाता है और जव वही वृत्ति नेत्रादि इन्द्रियोंसे वाह्य निकल कर घटादि पदार्थोंसे संयोग करके घटादि पदार्थोंके आकारको प्राप्त होती है, तव उसी वृत्तिमें पड़ा हुआ साक्षीका प्रतिबिम्ब प्रमेय-चेतन करके कहा जाता है। जिस समय-अन्तःकरण वृत्ति रहित होता है, उस समयमें अन्तःकरणमें पड़ा हुआ साक्षिका प्रतिविम्व प्रमाता चेतन करके कहा जाता है, जैसे लम्बा पात्रमें रखा हुआ जल-लम्बे आकार का होता है और गोल पात्रमें रखा हुआ गोल आकारका, इत्यादि। वैसेही जिस समयमें वृत्ति जैसा आकारकी होती है, उस कालमें वृत्ति विशिष्ठ चेतन उसी आकारका प्रतीत होता है। जिस समय रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होवी है, उस समय वृत्ति सर्पाकार होती है और वृत्ति विशिष्ट चेतनभी सर्पाकारही होता है। प्रश्न ? हे भगवन् ! रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति क्यों होती है, किसको होती है, सर्प किस देशमें उपजता है ? और रज्जुके ज्ञानमें तथा सर्पकी निवृत्तिमें क्या हेतु है ? उत्तर— हे शिष्य ! रात्रिमें पड़ी हुई रज्जुके ज्ञानमें अन्धकार प्रनि बन्धक हो जाता है, अर्थात् तम करके अच्छादित रात्रिमें पड़ी हुई रज्जुको देखकर वृत्ति विशिष्ट चेतन के आश्रय जो अविद्या अंश है, उस अविद्या अंशमें जो तमोगुण भाग है, वही तमोगुण सर्पाकार हो जाता है, और उसी अविद्या अंशका सतोगुण जानकार होकर-सर्पका ज्ञान करता है। शंका- ? हे भगवान् ! रज्जु विशिष्ट चेतनका आश्रय जो अविद्या अंश है, उस अविद्या अन्शमें जो तमोगुण है, उसीको सर्पाकार मानेनेमें

क्या आपत्ति है। समाधान—हे शिष्य ! यदि रज्जु देशमेंही सर्प उपजता हो तो किसीको जलधारा, किसीको दरार, किसीको सर्पकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये। किन्तु सबको सर्पकी ही प्रतीति होनी चाहिये। और हमारे सिद्धान्तसे तो अन्धकारके प्रति बन्धकतासे प्राणियोंकी चित्त-वृत्तिमें ही जल धारा, दरार सर्पादिकोंकी प्रतीति होती है। और जिस समय तम रूपी प्रतिबन्धकका नाश हो जाता है, उसी समय वृत्ति रज्जुके आकारको प्राप्त होती है। वृत्ति और रज्जु दोनों उपाधिओंके एक हो जाने पर वृत्ति विशिष्ट चेतन और रज्जु विशिष्ट चेतन ये दोनों चेतन एक हो जाते हैं। दोनों चेतनके एक होते ही वृत्ति विशिष्ट चेतनका आश्रय जो अविद्यांश है, उस अविद्यांशका तमोगुण अपने सर्पाकार परिणामको त्यागता है। और साथ ही उस अविद्या का सतोगुण अपने सर्पाकार ज्ञान परिणामको त्याग देता है। पुनः वही वृत्ति जब रज्जु उपहित-चेतन साक्षीके आकारको धारण करती है, तभी सर्पकी निवृत्ति होती है।

शंका—हे भगवन् ! पूर्व आपने कहा कि अन्धकार रूपी प्रतिबंधकके नाश होनेपर जब वृत्ति रज्जुके आकारको प्राप्त होती है, अर्थात् जब रज्जुका ज्ञान होता है, तभी सर्पकी निवृत्ति हो जाती है, और पुनः आप कहते हैं कि रज्जु उपहित चेतनके ज्ञान से ही सर्पकी निवृत्ति होती है। इस संदिग्ध वाक्य करके मेरी बुद्धि मोहको प्राप्त हो रही हैं। आप मुझ अल्पज्ञके लिए स्पष्ट कहें, जिससे मेरा संदेह दूर हो।

समाधान—हे शिष्य ! निवृत्ति दो प्रकारकी होती हैं, कारण सहित कार्यकी निवृत्ति और केवल कार्यकी निवृत्ति। केवल कार्यकी निवृत्तिसे तो अत्यन्त निवृत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि जब कारण रहेगा तो कालान्तरमें पुनः कार्य हो जानेकी सम्भावना हैं। और कारण सहित कार्यके नाशमें पुनः कार्य नहीं होता। जैसे किसी वृक्षकी शाखाएं तथा पत्तोंको काट देनेसे उस वृक्षमें से पुनः शाखा तथा पत्ते निकल आते हैं और मूलको छेदनकर देनेपर वृक्ष समूल नष्ट

हो जाता हैं, पुनः शाखा पत्ते नहीं होते। वैसे ही रज्जु उपहित चेतनके ज्ञान होनेपर उसकी दृष्टिमें रज्जु आदि पदार्थ नहीं रहते, किन्तु अखिल ब्रह्मांड एक ईश्वर ही मय भासता है। क्योंकि ईश्वर इस जगत का अभिन्ननिमित्त पादान कारण है। हे प्रिय! इस संसारका मूल कारण अविद्या है, जब वृत्ति रज्जु उपहित-ब्रह्माकार होती है, तब अविद्या अज्ञानका नाश हो जाता है। जब अज्ञानका नाश हो जाता है, तब अज्ञान जनित रज्जु आदि पदार्थोंकी प्रतीति नहीं होती; जब रज्जु आदि पदार्थ ही नहीं रहते, तो सर्पादिकोंकी भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। जब सर्पादिकोंकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, तो भयका सर्वदा अभाव हो जाता है। रज्जु उपहित चेतनके ज्ञानके बिना-केवल रज्जुके ज्ञानसे-सर्पकी निवृत्ति तो हो जायगी सही, परन्तु जब रज्जुका अस्तित्व बना रहेगा, तो फिर सर्पकी भ्रान्ति जनित क्लेशका अनुभव करना पड़ेगा।

शिष्य उवाच

दोहा

ज्ञान होत है वृत्तिको, अथवा चेतन माहिं।
भो भगवन मोसे कहो, समुझि परत मम नाहिं ॥१॥

अर्थ - हे भगवन्! मुझे यह समझमें नहीं आता कि ज्ञान-वृत्तिको होता है अथवा चेतनको आप मुझसे कहें—कि ज्ञान किसको होता है। तात्पर्य—जड़ होनेके कारण वृत्तिको तो ज्ञान हो नहीं सकता, और चेतनको सर्वत्र व्यापक कहा है, तो सर्वत्र सर्व पदार्थोंका ज्ञान चेतनको क्यों नहीं होता? अतः मेरी समझमें नहीं आता कि ज्ञान किसको होता है? आप कृपया कहें।

* श्रीगुरुरुवाच *

दोहा

चेतनके संयोग ते, होत वृत्तिको ज्ञान।
जिमि सूरजकी रश्मि ते, दर्पण मध्ये भान ॥ १ ॥

अर्थ— हे शिष्य ! जैसे सूर्यके प्रकाशसे दर्पणमें भान कहिये प्रकाश होता है, वैसे ही चेतनके संयोगसे ज्ञान होता है वृत्तिको ही।

भावार्थ—जैसे सूर्य-किरण सर्वत्र रहती है, परन्तु स्वच्छ दर्पण ही विषे प्रकाश होता है। और यद्यपि दर्पण स्वच्छ रहता है, परन्तु विना सूर्यके उसमेंसे प्रकाश नहीं आता, वैसे ही यद्यपि चेतन सर्वत्र व्यापक है, परन्तु अंतः करणका परिणाम जो स्वच्छ वृत्ति है, उस विषे ही ज्ञान होता है। वृत्तिके स्वच्छ रहने पर भी विना चेतनके ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वृत्ति जड़ है। हे शिष्य ! यहां पर दोनोंके सहायक दोनों हैं। जैसे लंगड़ेका सहायक अन्धा होता है और अन्धेका सहायक लंगड़ा होता है। वृत्ति तो पैर वाली प्रतीत होती है, क्योंकि किसी पदार्थके आकारको शीघ्र धारण करती है, परन्तु उसे उस पदार्थका ज्ञान नहीं होता; वृत्ति-आरूढ़ चेतनके द्वारा ही ज्ञान होता है,अतः वृत्ति अन्धी है। और चेतन तो स्वयं किसो पदार्थके आकारको प्राप्त नहीं होता, अतः लंगड़ा है, वृत्तिको प्रकाश देनेसे नेत्र वाला है।

प्रश्न ? हे भगवन् ! ज्ञान सत्य है अथवा असत्य ?

उत्तर—हे शिष्य ! त्रिकाल अबाधित जो सत्य चेतन है, सो ज्ञान स्वरूप है, अतः ज्ञान-सत्य है।

शंका ? हे भगवन् ! श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्यायमें भगवानने कहा है—"सत्वात्स जायते ज्ञान" सतो गुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, तो गीताके 'जातस्यहि ध्रुवो मृत्यु" इस वाक्यके अनुसार उत्पन्न हुएका नाश अवश्य होता है, तब कैसे माना जाय कि ज्ञान सत्य है ?

समाधान—हे शिष्य ! जैसे घटकी उत्पत्तिसे घटाकाशकी उत्पत्ति कही गयी है और घटके नाशसे घटाकाशका नाश कहा गया है।

वास्तवमें आकाशकी उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता, ज्योंका त्यों रहता है। और जैसे स्वच्छ जलाशय दर्पणादिमें सूर्यका पड़ा हुआ बिम्ब प्रकाशता है और जलाशय दर्पणादिकोंके नाश होने पर नहीं प्रकाशता तो क्या जलाशय दर्पणादिकोंके नाशसे सूर्यका नाश हो गया ? कदापि नहीं। वैसे ही सतोगुणके उदय होनेसे सर्व व्यापी ज्ञानकी झलक पड़ती है—अतः सतोगुणसे ज्ञानकी उत्पत्ति कही गयी, और सतोगुणके लय हो जाने पर ज्ञानकी झलक नहीं पड़ती, यद्यपि सत्य-ज्ञान रहता है सही। हे प्रिय ! वायु रहित स्थानमें जलता हुआ दीपक अपने समीपके पदार्थोंको प्रकाशता है, जैसे अपने समीपमें सिलायी करनेवालेको, लिखनेवालेको तथा नृत्य-गान करने वाले आदि सबको स्व-प्रकाशसे सहायता देता है, तथा इन सबोंके न रहने पर भी उसका प्रकाश न्यून नहीं होता ज्योंका त्यों प्रकाशता रहता है। वैसे ही यह ज्ञान स्वरूप चेतन आत्मा—सूर्य, चन्द्र, विद्युत, अग्नि, नेत्रादि ज्ञानेंद्रियां, वाकादि कर्मेंद्रियां, अन्तःकरण तथा अन्तःकरणका परिणाम रूप वृत्ति इत्यादि, इन सब जड़ पदार्थोंके रहने पर, इन्हें अपना प्रकाश रूप सत्ता स्फुरणसे, अपने अपने कार्य्योंमें नियुक्त कराता है और इनके न रहने पर भी ज्योंका त्यों अपने आप ही प्रकाशता है। इस प्रकार गुरु मुखसे श्रवण करके शिष्यकी चित्त वृत्तिअ-न्तर्मुख हो गयी, और कुछ काल तक मौन धारण कर अपने ज्ञान स्वरूप आत्मामें स्थित होकर असीम—आनन्दका अनुभव करने लगा। उसके मुखारविन्दसे ब्रह्म तेज झलकने लगा। पुनः जब चित्त-वृत्ति बहिर्मुख हुई, तो अपनेको कृत-कृत्य समझता हुआ; मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ प्रसन्न चित्तसे तथा गद्गद वाणीसे बोला—हे भगवन् ! कृपाल गुरो ! आपको कोटिशः धन्य-वाद है। आज मेरा सम्पूर्ण दुःख छूट गया। आपने मुझे आज आनन्द-सागरका अनुभव कराया है। त्रैलोक्यमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे देकर—इस उपकारके बदलेमें आपसे मैं उऋण होऊं।

हे प्रभो ! अब मुझे कुछ संशय नहीं रह गया, तथापि आपकी वाणी—अमृत श्रवण कर मेरा मन तृप्त नहीं होता, अतः आप पुनः उसी

शुद्ध ब्रह्मके विषयमें कहें कि वह ब्रह्म कैसा है ? इस प्रकार शिष्यके वचनको श्रवण करके महात्मने मौन धारण कर लिया। तब पुनः शिष्यने कहा—हे भगवन् ! वह ब्रह्म कैसा है ? फिर भी महात्मा नहीं बोले, जब शिष्यने पुनः यही प्रश्न किया, तब महात्मा बोले - अरे ! मैं बार-बार तेरे प्रश्नका उत्तर दे रहा हूं, तेरे समझ नहीं आता ? वह ब्रह्म वाणीका विषय नहीं कि कथन किया जाय। वह अनुभव गम्य हैं, वहां जाकर मूकही होना पड़ता है, अतः तेरे प्रश्नका उत्तर मूक होना ही है। जैसे लवणको पुतल समुद्रका थाह लेने गयी। और वहां जाकर स्वयं गलकर पानी हो गयी, तो फिर आकर कौन कहे कि समुद्र कितना गहरा है ? वैसे ही उस ब्रह्म विषे जाकर मन वाणी लय हो जाते हैं, तो फिर प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती उसी ब्रह्मकी सत्तासे तो सभी प्रमाण सिद्ध होते है, तो प्रमाणोंकी क्या सामर्थ्य कि ब्रह्मको प्रमाणित कर सकें ?

पांचवा परिच्छेद

शुद्ध ब्रह्म भेद तथा परिच्छेदसे रहित है।

दोहा

स्वगत स्वजातिय भेद नहिं, नहीं विजातिय भेद।
शुद्ध-ब्रह्ममें वस्तु नहिं, देश काल परिच्छेद ॥१॥

अर्थ—शुद्ध ब्रह्ममें स्वजातीय-विजातीय तथ स्वगत भेद नहीं है और न तो देश, काल, वस्तु परिच्छेद ही है ॥

भावार्थ—हे शिष्य! भेद तीन प्रकारका होता है, स्वजातीय, विजातीय तथा स्वगत। उसमें स्वजातीय भेद उसे कहते हैं जो अपनी जाति वाला हो। जैसे वृक्ष जातिका जो वट है, उसका वृक्ष जाति वाला पीपल स्वजातीय है। शुद्ध-ब्रह्म निरावच्छिन्न तथा अजन्मा होनेके कारण उसके जातिका दूसरा नहीं है। अतः वह स्वजातीय भेदसे रहित है। विजातीय भेद उसे कहते हैं, जो अपनी जातिसे भिन्न जाति वाला हो। जैसे वृक्ष जाति वाला जो वट है, उससे भिन्न जाति वाले पशु पहाड़ादि हैं। "एक मेवा द्वितीयं" एक ही अद्वितीय होनेसे उस शुद्ध ब्रह्ममें विजातीय भेद नहीं है। अपने शरीरके ही अन्दर अंग-प्रत्यङ्गोंके भेदको स्वगत भेद कहते हैं। जैसे एक ही वट वृक्षमें शाखा, डाली, पत्ता इत्यादि भेद हैं। अवयव रहित होनेके कारण उस शुद्ध ब्रह्ममें स्वगत भेद भी नहीं है। वैसे ही हे शिष्य! परिच्छेद भी तीन प्रकारका होता है। देश, काल तथा वस्तु। जब कि स्वप्नके मिथ्या पदार्थ ही देश कालसे रहित हैं तो कल्पित देश-काल परिच्छेद अनन्त शुद्ध ब्रह्ममें हो ही कैसे सकते हैं? ये सब कल्पित पदार्थ तो उसीके आश्रयसे भास रहे हैं।

"सर्वं खलुमिदंब्रह्म"—निश्चय करके यह अखिल जगत ब्रह्म स्वरूप ही है, तो वस्तु परिच्छेद उस सत्य-शुद्ध-ब्रह्ममें हो ही कहां सकता? "सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म"-श्रुति भगवती कहती है—सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म है। काल परिच्छेद से रहित होनेसे अनन्त है, शुद्ध ब्रह्म विषे यह नियम नहीं कि अमुक कालमें उत्पन्न हुआ और अमुक काल तक रहेगा, क्योंकि वह सबका अधिष्ठान है। वस्तु-परिच्छेद से रहित होनेसे वह ज्ञान-प्रकाश है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म-विषे किसी वस्तुका आवर्ण नहीं कि उसका ज्ञान-स्वरूप ढके। देश-परिच्छेद से रहित होने से सत्य है, क्योंकि वह शुद्ध ब्रह्म ऐसा नहीं कि किसी देशमें रहे, और किसी देशमें न रहे, क्योंकि वह सर्व व्यापी है।

प्रश्न—? हे प्रभो! भेद तथा परिच्छेदसे रहित शुद्ध-ब्रह्म किसी प्रमाणका है? हे प्रिय! वह शुद्ध-ब्रह्म किसी प्रमाणका विषय नहीं है। "न तद्भासयते सुर्यो न शशाङ्कों न पावकः" वहां न सूर्य प्रकाश कर सकता है, न चन्द्रमा, न अग्नि। जब वहां नेत्रके अधिष्ठाता (स्वामी) सूर्य तथा मनके अधिष्ठाता चन्द्रमा और वाणीके स्वामी अग्नि नहीं पहुंच सकते; तो उसे नेत्र देख कैसे सकते तथा मन मनन कैसे कर सकता और वाणी कथन कैसे कर सकती है। इसी हेतु श्रुतिने कहा है "नैव वाचा न मनसा शक्यो प्राप्तुं न चक्षुषा" तथा "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"।

शंका? हे भगवन्! जो वह ब्रह्म मन, वाणी आदिका अविषय है, तो श्रुतिमें "अन्नं ब्रह्मेति उपासीत, प्राणं ब्रह्मेति उपासीत" इत्यादि अन्न ही ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे अथवा प्राण ही ब्रह्म है, ऐसी उपसाना करे, इस प्रकारकी उपासानाएं क्यों बतायी गयी हैं।

समाधान—हे शिष्य! पूर्वोक्त उपासनाएं सोपाधिक ब्रह्म की हैं। सोपादिक ब्रह्मकी उपासनाएं करते करते बुद्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरुपाधिक शुद्ध-तत्वमें पहुंच जाती है। जैसे किसीको अरुन्धतीका तारा दिखानेकें लिए प्रथम आकाशमें तारा-समूहको दिखा कर कहते हैं कि इन ताराओंको देखता है? तो द्रष्टा कहता है-हां, देखता तो हूं,

परन्तु इनमें कौन अरुन्धतीका तारा है, यह मैं नहीं जानता। तब देखाने वाला कहता है कि इनमेंसे उत्तर तरफ़ जो चारपाईकी तरह तारे हैं, वही अरुन्धतीका तारा है, तूं देखता है? तब द्रष्टा कहता है—हाँ देखता हूं, परन्तु ये तो सात हैं, क्या सातों अरुन्धतीके तारा हैं? तब दिखाने वाला कहता है—नहीं, उनमें चारपाई सरीखे चारको छोड़कर शेषको देखो। तब द्रष्टा कहता है—तब तो तीन रह जाते हैं, क्या ये ही हैं? तब दिखाने वाला कहता है—नहीं, तीनोंके मध्यमें जो है उसे तूं देखता है? तब द्रष्टा कहता है हां मैं देखता हूं, तब दिखाने वाला कहता है--उसके समीपमें जो अत्यन्त सूक्ष्म तारा जो टिमटिमा रहा है, वही अरुन्धतीका तारा है। तब द्रष्टा अरुन्धतीके ताराको पहिचान कर प्रसन्न हो जाता है। यदि उसे प्रथम ही अरुन्धतीका तारा दिखाया जाता, तो शीघ्र ही वह कदापि नहीं देख सकता। वैसे ही "श्रुति भगवती" अपनो जिज्ञासु पुत्रों पर दया करके प्रथम सोपाधिक ब्रह्म-स्थूलका उपदेश करके फिर सूक्ष्माति सूक्ष्मसे भी परे निरुपाधिक ब्रह्मका उपदेश किया है। हे प्रिय! वृत्तिके सहायतासे वृत्ति-आरूढ़ चेतन (जोव मूलाज्ञानका नाशकर, उस ब्रमको प्राप्त हो कर तन्मय हो जाता है।

प्रश्न? हे भगवन्! वृत्तिकी सहायतासे वृत्तिमें आरूढ़ ही चेतन क्यों मूलाज्ञानका नाशक हैं, प्रकाश स्वरूप सामान्य चेतन क्यों नहीं नाशक होता?

समाधान—हे प्रिय! प्रकाश स्वरूप तथा दाहक शक्ति वाला अग्नि, यद्यपि तृण काष्ठादिकोंमें सामान्य रूपसे व्यापक रहता है, तथापि उन तृण काष्ठादिकोंको जला नहीं सकता। परन्तु जब वही अग्नि तृण काष्ठादिकोंके संघर्षणादि द्वारा विशेष रूपमें व्यक्त हो जाता है, तो उन्हीं तृण काष्ठादिकोंको भस्मीभूत कर देता है। वैसे ही सा-मान्य रूपसे व्यापक सामान्य-चेतन मूलाज्ञान तथा मूलाज्ञान-जनित कार्यका नाश नहीं कर सकता। जब वही चेतन प्रणवादिकी उपासना तथा महा-वाक्यके विचार द्वारा वृत्तिमें आरुढ़ होकर विशेष रूपको

धारण करता है, तभी वृत्तिकी सहायतासे पुनः समान्य चेतनके आकारको प्राप्त होता हुआ मूलाज्ञानको नष्ट कर देता है।

शंका ? हे भगवन्! क्या कारण है कि सामान रूपसे व्यापक अग्नि काष्ठादिकोंको नहीं लाता ?

समाधान हे शिष्य ! सम सत्ता वाले ही पदार्थ सम सत्ता वाले पदार्थों के विरोधी हैं; विषम सत्ता वाले तो उल्टा साधक होते हैं।

प्रश्न—सत्ता कितने होते हैं ?

उत्तर – तीन प्रकारके।

प्रश्न—कौन कौन ?

उत्तर—परमार्थिक सत्ता, व्यवहारिक सत्ता और प्रतिभासिक सत्ता। उनमें तीन कालमें मिथ्या नहीं होनेसे परमार्थिक सत्ता शुद्ध-चेतनको कहते हैं। और जिस पदार्थका ब्रह्म ज्ञानके विना नाश तो हो सके, परन्तु वाध कहिये मिथ्या अपरोक्ष न हो सके उसे व्यवहारिक सत्ता कहते हैं, जैसे ईश्वर-कृत सृष्टि-पदार्थ, जो जन्म-मरण बंध-मोक्षके सिद्ध करने वाले हैं और जीव-कृत सृष्टिको प्रतिभासिक सत्ता कहते हैं. जो ब्रह्म ज्ञानके विना ही मिथ्या प्रतीत हो जाती है। जैसे मनोकल्पित पदार्थ, अथवा स्वप्न-सृष्टि, अथवा मरुस्थल, सीपी और रज्जु में जल, चांदी और सीपीकी प्रतीति। हे प्रिय प्रतिभासिक सत्ता जो स्वप्नके पदार्थ हैं, उनको व्यवहारिक सत्ता-जागृतके पदार्थ नाश नहीं कर सकते। जैसे स्वप्नमें कोई नृपति दरिद्रता-वश भिक्षा मागता हुआ दरिद्र-जनित महान् कष्टका अनुभव करता है, यद्यपि जागृत अवस्था व्यवहारिक सत्तावाला राज्य-कोष-धन विद्यमान रहता है, परन्तु उस दुःखका नाश नहीं कर सकता। वह क्लेश तो तभी नष्ट हो सकता है, जब स्वप्नावस्थामें ही उस नृपतिको धनकी प्राप्ति हो जाय। हे प्रिय जागृतके पदार्थ हो स्वप्नके पदार्थों के हेतु है, क्योंकि जागृतके पदार्थोंका संस्कार मनमें छिपा हुआ स्वप्नमें व्यक्त हो जाता है। अतः जागृत जो व्यवहारिक सत्ता, सो स्वप्न-प्रतिभासिक सत्ता का साधक है। इसी प्रकार न तो परमार्थिक सत्ताको व्यहवारिक

सत्ता नष्ट कर सकती है, न व्यवहारिक सत्ता परमार्थिक सत्ताको। और प्रतिभासिक सत्ता भी व्यवहारिक सत्ताको नष्ट नहीं कर सकती। हे प्रिय ! व्यवहारिक सत्तामें भी रूप रूपको ही नष्ट कर सकता है। और अरूप अरूपको। जैसे सामान्य-अग्नि अरूप होनेसे तृण काष्ठादि रूपवान पदार्थोंको जला नहीं सकता। और जब वही अग्नि संघर्षण द्वारा रूपवान हो जाता है तो तत्काल ही तृण-काष्ठादिकोंको भस्मीभूत कर देता है। विचार करके देखिये तो व्यवहारिक और प्रतिभाषिक, दोनों सत्ताएं अनात्म तथा कल्पित होनेसे भिन्न भिन्न नहीं हैं, किञ्चित विलक्षणता न होनेसे दोनों एक ही हैं, क्योंकि दोनोंका अधिष्ठान भी एक ही साक्षीभास्य है। हे सौम्य ! कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता। अतः प्रतिभासिक और व्यवहारिक ये दोनों सत्ताएं, साक्षीका स्वरूप जो ब्रह्म है, उससे पृथक नहीं है; अर्थात् ब्रह्म स्वरूप ही हैं।

प्रश्न – हे भगवन् ! पूर्वोक्त दोनों सत्तामय यह अखिल विश्व ब्रह्म मय तो नहीं भासता है; अर्थात् यह तो विभिन्न सा प्रतीत होता है।

उत्तर—हे शिष्य ! कार्य कारणसे भिन्न नहीं होता; किन्तु कारण-मय ही होता है। अतः यह जगत पंच तत्वोंसे बने होनेके कारण पंचतत्व मय ही है और पंच तत्व ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण पंचतत्व भी ब्रह्ममय ही हैं। इस रीतिसे यह अखिल विश्व ब्रह्म स्वरूप ही है। अथवा जिन पंचतत्वोंसे यह ब्रह्माण्ड बना है, उनका उपादान कारण प्रकृति है, और प्रकृतिका आश्रय ब्रह्म होनेसे ब्रह्म प्रकृतिका अधिष्ठान है; अर्थात् प्रकृति (माया) ब्रह्ममें ही कल्पित है। हे प्रिय ! मैं पहले कह चुका हूं कि कल्पित पदार्थ अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता, इस रीतिसे भी यह ब्रह्माण्ड ब्रह्ममय ही है। अथवा इस संसारके हर एक पदार्थमें पांच अंश हैं, यथा—नाम, रूप, अस्ति, भाति और प्रिय। उनमें नाम, रूप व्यभिचारी हैं अर्थात् कल्पित हैं। जैसे 'घट" नाम और उसका गोलाकार—"रक्त" रूप, "पट" नाम और उसका तन्तु 'श्वेत' रूप विषे नहीं है। और "पट" नाम और उसका तन्तु "श्वेत' रूप 'घट' नाम और उसका गोलाकार "रक्त' रूप विषे नहीं है। अर्थात् जहां घट

है, वहां पट नहीं है। और जहां पट है वहां घट नहीं है। इस रीतिसे नाम, रूप, ये दोनों अंश एक देशी तथा नश्वर हैं। और "इदं" अंश जो अस्ति है, सो सर्वदा-सर्वत्र रहता है। जैसे जिस कालमें रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होती है, उस कालमें यह सर्प है, ऐसी प्रतीति होती है। और जब भ्रान्ति दूर हो जाती है, तो यह रज्जु है, ऐसी प्रतीत होती है। वहां दोनों स्थानोंमें नाम जो सर्प और रज्जु, उनका ही नाश तथा उत्पत्ति होती है। और इदं जो यह है, उसकी प्रतीति तो दोनों स्थानोंमें है। ऐसे ही "इदं"–(यह) अंशका प्रयोग सम्पूर्ण पदार्थोंमें होता है। और 'भांति" कहिये प्रतीत जो सम्पूर्ण पदार्थोंकी होती है, सो "भांति" अंश भी सत्य तथा अविनाशी है। जैसे यह रज्जु है, यह सर्प है, यह घट है. यह पट है। इत्यादि स्थानोंमें जो "है" अंश है, वही प्रतीति है और उसीको भांति कहते हैं। और "प्रिय कहिये आनन्द; सो भी सम्पूर्ण पदार्थोंमे है। यदि पदार्थोंमें "आनन्द" अंश नहीं रहता, तो कोई भी पदार्थ प्रिय प्रतीत नहीं होते। हे प्रिय! अस्ति, भाति, प्रिय, को ही सत्, चित्, आनन्द कहते हैं, सम्पूर्ण नाम-रूप इसी सच्चिदानन्द ब्रह्ममें कल्पित हैं, अतः यह नाम रूपात्मक जगत ब्रह्म स्वरूप ही है।

छठवां परिच्छेद

ज्ञानकी सप्त भूमिका

महात्मा बोले—हे प्रिय ! अब तुम्हें क्या सुननेकी इच्छा है ?

शिष्य उवाच

सोरठा

कब लगि जगका भान ? यत्न शेष कब होत है ?
गुरुवर ज्ञान निधान ? जीवन मुक्त विदेह क्या ?

अर्थ—शिष्य बोला—हे ज्ञानके निधान गुरुवर ! संसारकी प्रतीति कब तक रहती है ? पुरुषार्थकी समाप्ति कब हो जाती है ? और जीवन मुक्त एवं विदेह किसे कहते हैं ?

भावार्थ—अपने आत्म-स्वरूप ब्रह्मकी जिज्ञासासे साधनमें लगे हुए पुरुषको किस अवस्थामें जाकर संसार दृश्यकी विस्मृति हो जाती है, अर्थात् जगत प्रतीत ही नहीं होता ? और किस अवस्थामें जाकर विक्षेप-निवृत्तिके कारण आत्म स्वरूपमें प्रगाढ़-स्थिति होनेसे यत्न (उद्योग) छूट जाता है ? तथापि किस अवस्थामें जाकर आत्म (ब्रह्म) जिज्ञासु पुरुष जीवन मुक्त एवं विदेह मुक्त कहलाता है ?

श्री गुरु रुवाच

सोरठा

कहौं भूमिका सात, सुनहु शिष्य अब ज्ञान को ।
जाते ह्वै सुख प्रात, मिटहिं सकल संशय तब ॥१॥

अर्थ—श्रीगुरु बोले—हे शिष्य ! अब मैं ज्ञानकी सात भूमिका कहता हूं, तुम सावधन हो कर सुनो, जिसके श्रवणसे सुख प्राप्त होगा और तुम्हारी पूर्वोक्त सम्पूर्ण शंकाएं मिट जायेंगी ।

दोहा ❀

सत्य माहिं मम बुद्धि नहिं, मैं मूरख मति हीन ।
संतन अरु सत शास्त्रको, संगति ना मैं कोन ॥१॥
नाम शुभेच्छा भूमिका, प्रथम ज्ञानकी आहि ।
मनन करन सत् शास्त्रका, संतन संगति जाहि ॥२॥
विषयनसे वैराग्य अरु सत्यासत्य विवेक ।
द्वितीय विचार सुभूमिका, गेह सत्य करि टेक ॥३॥

दोहार्थ—जबपुरुषको इस प्रकारकी ग्लानि बार बार हूने लगे कि सत्य विषयमें मेरी बुद्धि नहीं है, मैं अज्ञानी तथा मूर्ख हूं । महात्माओंका और सद्‌ शास्त्रोंका संग मैंने नहीं किया; अर्थात् न तो महात्माओंसे अपने उद्धार निमित्त सतसंग किया और न सत् शास्त्रोंका अवलोकन ही किया। तब जानना चाहिये कि वह पुरुष ज्ञानकी शुभेच्छा नामकी प्रथम भूमिकामें चला गया। इस प्रकारकी अवस्थाको ही शुभेच्छा नामकी ज्ञानकी प्रथम भूमिका कहते हैं। जब वह पुरुष महात्माओंका संग तथा सत् शास्त्रोंकी अवलोकन करने लगे और शब्दादिक विषयोंसे वैराग्य कहिये आसक्तिको हटाता हुआ सत्य-आत्मा एवं असत्य अनात्म पदार्थोंको विचार करके सत्य-आत्म स्वरूपको टेक कहिये दृढ़ता पूर्वक गहे, अर्थात् धारण करे; चित्त वृत्तिको लगाये तो जानना चाहिये कि वह पुरुष विचार नामकी दूसरी सुन्दर भूमिकाको प्राप्त हो गया ।

❀नोट—आवश्यकता पड़ने पर यहांसे ग्यारह दोहे मेरी लिखी हुई "ज्ञानामृत" नामक पुस्तकमेंसे लिये गये हैं ॥लेखक—

दोहा

सहित विचार शुभेच्छु पुनि, इन्द्रिनका वनि नाथ।
तिसरो है तनु मानसा, तत्व मननके साथ ॥४॥
श्रवण मनन निदिध्यासन, तानि भूमिका युक्त।
चौथी "सत्वापत्ति" है, सत्यात्मामें रक्त ॥ ५ ॥
चारि भूमिका जन्य फल, भूति माहिं निहिशक्ति।
उक्ति ज्ञानकी भूमिका, पचवीं "असंसक्ति" ॥ ६ ॥

अर्थ—जव शुभेच्छा और विचार, इन दो भूमिकाओंसे युक्त होकर तथा इन्द्रियोंको स्वाधीन करके एवं तत्व विचारसे भी युक्त हो जाय अर्थात् जगतके सम्पूर्ण पदार्थ पंच तत्वों करके ही रचित होनेसे जड़ तथा मिथ्या प्रतीत होने लगे तो जानना चाहिये कि वह पुरुष तनुमानसा नामकी तीसरी भूमिकाको प्राप्त हो गया। जव पूर्वोक्त तीन भूमिकाओंसे युक्त होकर, श्रवण, मनन, निदिध्यासन पूर्वक सत्य-स्वरूप-आत्मामें प्रेम (मग्न) होने लगे, तो जानना चाहिये कि वह पुरुष सत्वापत्ति नामकी चौथी भूमिकाको प्राप्त हो गया। पूर्वोक्त चार भूमिकाओंकी प्राप्तिसे ऋद्धि-सिद्धि रूपी ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। जव उस ऐश्वर्यमें आसक्त न हो; अर्थात् आत्म प्राप्तिमें वाधक समझ कर न तो प्रेम करे और न लोगोंको दिखाये, तो जानना चाहिये कि वह पुरुष पांचवीं भूमिकाको प्राप्त हो गया जो असंसक्ति नाम करके कही गयी है।

दोहा

विस्मृति दृश्यको वस्तु सव, बहु प्रकारको तुच्छ।
भीतर-वाहरको लखे, अभि अंतर अति स्वच्छ ॥७॥
वस्तु भावनो भूमिका, छठीं ज्ञानको सींव।
छठई के अभ्यास ते, भेद भाव गत नींव ॥८॥

दृढ़ता आत्म स्वरूपमें, सतें तुरीया ज्ञान ।
कह वशिष्ठ श्रीरामसे, सप्त भूमिका ज्ञान ॥९॥

अर्थ—जब अंतःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाय तथा बाहर-भीतरकी अनेक प्रकारकी सभी वस्तुएं तुच्छ कहिये मिथ्या समझ पड़ने लगें एवं धीरे-धीरे दृश्य कहिये जगतकी विस्मृति होने लगे, तब जानना चाहिये कि वह पुरुष वस्तुभावनी नामकी छठईं भूमिका को प्राप्त हो गया, जो ज्ञानकी सीमा है। जब छठईं भूमिकाके अभ्याससे स्थितिके परिपक्व हो जाने पर भेद भाव कहिये द्वैत (प्रपंच) नींव कहिये समूल गत (नष्ट) होकर आत्म-स्वरूपमें दृढ़ता हो जाय अर्थात् सिवा आत्म-तत्वके कुछ भी न भासे, तब जानना चाहिये कि वह पुरुष तुरिया नामकी सातवीं भूमिकाको प्राप्त हो गया। हे शिष्य! इस प्रकार "योगवाशिष्ठ" के तीसरे प्रकरणमें वशिष्ठजीने श्रीरामचन्द्र-जीसे सातों भूमिकाओंका ज्ञान कहा है।

भावार्थ- प्रथम भूमिकामें पुरुषको अपने स्वभाव तथा आचरण पर बार बार ग्लानि उत्पन्न होती हैं। द्वितीय भूमिकामें विवेक * और वैराग्य, इन दोनों साधनोंसे सम्पन्न हो जाता है। तृतीय भूमिकामें शम दमादि षट सम्पति रूप तृतीय साधनसे युक्त होकर तत्व विचारमें तत्पर हो जाता है। चतुर्थ भूमिकामें मुमुक्षुता रूप चतुर्थ साधनसे युक्त होकर श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा असंभावना और विपरीत भावना इन दोनों दोषोंको निवृत करके आत्मामें प्रेम करता है। पंचम भूमिकामें उस पुरुषका ऋद्धि सिद्धि अपने अपने ऐश्वर्यके साथ प्रेरित करती है अर्थात् लोभित करती हैं। परन्तु वह धीर पुरुष किञ्चित मात्र भी आसक्त नहीं होता। षष्टम भूमिकामें, आसक्तिके अभावसे अंतःकरण अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है और धीरे-धीरे एक और बाह्यकी मिथ्या वस्तुएं विस्मरण होने लगती हैं और दूसरी ओर

*नोट— विवेकादि साधन चतुष्टयका वर्णन दूसरे परिच्छेदमें सविस्तार कर आये हैं, उसे देखिये।

अंत:करणकी वृत्ति आभ्यान्तरकी ओर आत्माकार होने लगती है, जिसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। सप्तम भूमिकामें द्वैतभाव (जीव और ब्रह्म को भिन्नता) निवृत होकर संसारका भान ही नहीं रहता, सदाके लिये स्थिर हो जाता है, जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

दोहा

वस्था जाग्रत जगतकी, तीनि भूमिका आदि।
चौथी है तत्त्वज्ञको, तत्पर जो श्रवणादि ॥१०॥
ये हैं जीवन मुक्तको, छठीं पांचवीं दोय।
सतईं मुक्त विदेहको, जामें स्थिर सो होय ॥११॥

अर्थ—ये सातों भूमिकाएं आग्रत, तत्वज्ञ, जीवन मुक्त और विदेह मुक्त, इन चार अवस्थाओंके अन्तर्गत हैं उनमें प्रथमकी तीन भूमिकाएं शुभेच्छा, विचार और तनुमानसा, जगतकी जाग्रत अवस्था की हैं। चौथी भूमिका सत्वापत्ति, तत्वज्ञ-अवस्था की है; जिसे तत्व ज्ञानी कहते हैं, वह तत्वज्ञानी इस अवस्थामें श्रवण, मनन और निदिध्यासनमें तत्पर रहता है। पांचवीं और छठवीं जो असंसक्ति और वस्तु-भावनी हैं ये दोनों भूमिका जीवनमुक्त-अवस्था की हैं। सातवीं भूमिका जो तुरीय है सो विदेहमुक्त-अवस्था की है, जिसमें जाकर वह विदेह मुक्त पुरुष स्थिर हो जाता है, अर्थात् पुनः चित्त-वृत्ति विक्षेपको प्राप्त नहीं होती।

सप्त भूमिका और चार अवस्थाओंका उपसंहार प्रथम शिष्यने प्रश्न किया था कि संसारकी प्रतीति कब तक रहती है? उसके उत्तरमें गुरुने कहा—चौथी भूमिकामें जब श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा असम्भावना और विपरीत भावना, ये दोनों दोष नष्ट हो जाते हैं। तथा आत्मामें चित्त-वृत्ति लगने लगती है, तभीसे जगतका कारण मूलाज्ञान मिथ्या प्रतीत होने लगता हैं। और पंचम भूमिकामें जगतका

कारण मूलाज्ञान अत्यन्त नष्ट होकर कार्य रूप जगतकी आसक्ति छूट जाती है और यह जगत मिथ्या रूपसे प्रतीत होने लगता है। षष्टम भूमिकामें जगतकी प्रतीति भी न्यून होने लगती है। और सप्तम भूमिकामें अत्यन्त निवृत्त हो जाती है।

प्रश्न—सप्तम भूमिकामें उस पुरुषकी कैसी दशा रहती है?

उत्तर-उस समय वह पुरुष यद्यपि मनुष्यकी तरह अथवा नवीन बालक की तरह मस्त होकर कभी हंसता है, कभी रोता हैं, कभी उदासीन हो कर चुप रहता है, कभी पागलों सा बोलने लगता है। उसके लिये कुछ नियम नहीं—विधि नहीं तथा कुछ निषेध नहीं, क्योंकि उसकी दृष्टिमें आत्म स्वरूपके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। यथा -

❀ कवित्त ❀

कबहूं बकत बातें पागल समान यों हो,
कबहूं पण्डित सम वचन उचार्यो है।
कबहूं हंसत मन कबहूं उदास होत,
कबहूं रहत चुप मानों मौन धारयो है।
कबहूं नगन होइ फिरत भिखारी सम,
कबहूं नृपति सों सुन्दर वस्त्र धार्यो है।
ज्ञानको अलख गति लखे कौन जग मांहि,
जहँ दृष्टि जात तहँ ब्रह्म हो विचारयो है ॥१॥
कबहूं अशन शाक कबहूं मिष्टान्न खात,
कबहूं शयन महि कबहूं निवार है।
कबहूं लगाइ दृढ़ आसन समाधि करे,
कबहूं उतावल फिरत द्वार-द्वार है।
कबहूं रुदन करे बालक अजान इव,
कबहूं सयान सम करे व्यवहार है।
विधि न निषेध तेहि जीवन मुकुत सोइ,
ब्रह्म-भूत ज्ञानीकर महीमा अपार है ॥२॥

हे तात ! इसी अवस्थामें पुरुषार्थ छूट जाता है। इस वाक्यसे शिष्यके दूसरे प्रश्नका उत्तर हुआ कि पुरुषार्थकी समाप्ति कब होती है ? यद्यपि पंचम भूमिकामें पहुंचते ही जगतकी आसक्ति छूट जानेके कारण स्वमोक्षार्थयत्नका शेष हो जाता है, तथापि जगत्‌का भान होनेके कारण श्रुति-स्मृति विहित कर्म रूपी पुरुषार्थ निष्काम बुद्धिसे करता रहता है, अथवा सन्यास लेकर जीवन मुक्तिके आनन्दको लूटता है, अर्थात् प्रारब्धकी प्रेरणानुसार प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिके मार्गको ग्रहण करता है। जीवन मुक्त और विदेह मुक्त किसे कहते हैं ? शिष्यके इस तीसरे प्रश्नका उत्तर पांचवीं छठवीं भूमिकासे तथा सातवीं भूमिकासे गुरूने दिया। इस प्रकार गुरु मुखसे श्रवण करके शिष्य बोला—हे भगवन् ! आपके कथनसे मुझे यह ज्ञात हुआ कि जीवन मुक्त पुरुष भी सांसारिक वर्णाश्रम धर्मका पालन श्रुति स्मृति विहित, निष्काम भावसे करता हुआ सदा-सर्वदा मुक्त है; पुनः बन्धनको प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसको आत्म-तत्वसे विस्मृति नहीं है। अथवा सन्यास लेकर सुख पूर्वक विचरता है। और विदेह मुक्त पुरुष विधि--निषेधसे परे रहता हुआ यत्किंञ्चित् स्वाभाविक चेष्टा करता है।

शंका ?—हे भगवन् ! इन दोनों महानुभावोंके व्यवहारका हेतु क्या है ? यह मुझे शंका है, सो आप कृपया दूर करें।

समाधान—हे शिष्य ! इनके व्यवहारका हेतु प्रारब्ध है जिसका प्रारब्ध-भोग विशेष है, उसका कारण—मूलाज्ञान (माया) नष्ट हो कर, आत्माका अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी तूलाज्ञान रहनेके कारण, उसको कार्यरूप संसारकी प्रतीति असत्य रूपसे होती रहती है और वह पुरुष असत्य जानता हुआ भी प्रारब्ध निवृत्यर्थ प्राप्त हुए सम्पूर्ण व्यवहारोंको करता हुआ जीवन मुक्त कहलाता है।

शंका ?—हे भगवन् ! उस जीवन मुक्त पुरुषका मूलाज्ञानके साथ ही तूलाज्ञान भी नष्ट क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—हे शिष्य ! तूलाज्ञानके नष्ट होनेमें प्रतिबंधक प्रारब्ध हो जाता है। क्योंकि बिना किंचित् अज्ञानका आश्रय लिए जगतके

पदार्थोंकी प्रतीति नहीं होती, और विना प्रतीतिके उन पदार्थोंको भोग नहीं सकता, अतः प्रारब्ध भोगके लिए तूलाज्ञान रह जाता है। हे प्रिय! ज्ञानीके व्यवहारका कोई नियम नहीं है और न शरीर छोड़नेका कोई नियम है। लोक दृष्टिसे दुःख करके व्याकुल तथा चिल्लाता हुआ, या शरीरमें व्रण (घाव) होकर या कीड़ा पड़ कर शरीर छूटे, अथवा उत्तरायणमें अथवा दक्षिणायनमें, अथवा काशी आदि पुण्य क्षेत्रमें, अथवा मगहमें, अथवा चाण्डालके गृहमें, अथवा अत्यन्त अपवित्र स्थानमें, वह सर्वत्र मुक्त ही है। ज्ञानीका प्राण बाहर गमन नहीं करता, किन्तु भीतर ही आत्म-स्वरूपमें लयको प्राप्त होता है। उसके शरीरकी जो कुछ दशा होती है, सो प्रारब्धानुसार होती है।

सातवां परिच्छेद

सर्वोत्कृष्ट प्रणव उपासना

हे शिष्य ! जो तुमने जीवन मुक्त और विदेह मुक्तके विषयमें प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दिया। अब क्या श्रवण करनेकी इच्छा है।

शिष्य बोला—हे दीनबन्धो ! महावाक्यके विचारमें जिस मुमुक्षु पुरुषकी सामर्थ्य नहीं है, उन्हें क्या कर्तव्य है ? आप कृपया कहें।

महात्मा बोले—हे प्रिय ! जो मुमुक्षु पुरुष महावाक्यके विचार करनेमें असमर्थ हो, वह अहंग्रहकी उपासना करे, यदि अहंग्रहको उपासना करनेमें भी असमर्थ हो, तो शास्त्र-विहित निष्काम-कर्म करे।

प्रश्न—हे भगवन् ! अहंग्रहकी उपासना कैसे होती है, यह मैं सुनना चाहता हूं।

उत्तर—हे शिष्य ! प्रणवकी उपासना ही अहंग्रहकी उपासना है। श्रुतिमें इस प्रणवका ध्यान दो प्रकारसे वर्णन है; प्रथम "अपर ब्रह्म" कहिये सगुण और दूसरा "पर ब्रह्म" कहिये निर्गुण। उसमें सगुणके ध्यानसे तो ऐहिक सुख जो धनादि ऐश्वर्य, उनकी प्राप्ति होती है और निर्गुण ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह प्रणव ब्रह्मका वाचक है और ब्रह्म इसका वाच्य है। वाचक और वाच्यमें कुछ भेद नहीं होता, अतः यह प्रणव ब्रह्म स्वरूप ही है। अथवा संसारके सभी पदार्थ नाम-रूप वाले हैं। रूपसे नाम पृथक नहीं होता और नामके प्रयोग किये बिना केवल रूपसे व्यवहारको सिद्धि नहीं होती। और ब्रह्मका वाचक होनेसे, नाम ब्रह्म स्वरूप ही है और हे तात ! वह ब्रह्म अपने आत्मासे पृथक नहीं है, अतः नाम भी आत्म स्वरूप ही है। जैसे इस संसारमें प्राण और प्रज्ञा, ये दो ही मुख्य हैं, क्योंकि प्राणके न रहनेसे शरीर नहीं रह सकता और बुद्धिके न रहनेसे प्राणी कुछ व्यवहार ही नहीं कर

सकते। अथवा प्राण बिना बुद्धि नहीं रह सकती और बुद्धि बिना प्राण नहीं रह सकता। "प्राण" शब्दमें दो पद हैं, एक प्र और दूसरा अन्। प्र का मतलब है अतिशय और अन् का मतलब चलना है, अर्थात् जिसमें अतिशय चलनेकी शक्ति हो, उसे प्राण कहते हैं। वैसे ही "प्रज्ञा" शब्दमें भी दो पद हैं, एक प्र और दूसरा ज्ञा। प्र का मतलब है अतिशय और ज्ञा का ज्ञान है। अर्थात् जिसमें अतिशय ज्ञान करनेकी शक्ति हो उसे, उसे प्रज्ञा कहते हैं। अब विचार करके देखिये तो प्राण और प्रज्ञा दोनों जड़ हैं, अतः प्राणमें न तो चलन रूप क्रिया होनी चाहिये और न प्रज्ञामें ज्ञान। इस लिये प्राण और प्रज्ञा, ये दोनों एक आत्मा ही के लक्षक हैं, क्योंकि आत्मा चेतन है। इसी प्रकार सम्पूर्ण नाम एक ब्रह्मात्मा ही के लक्षक हैं और श्रुतिने नाम-रूपात्मक जगतको ब्रह्म-स्वरूप ही कहा है। यथा—"सर्वंखल्विदंब्रह्म" अतः नामात्मक प्रणव भी ब्रह्म-स्वरूप ही है। माण्डूक्य उपनिषद्में कहा है कि भूत, भविष्य, वर्त्तमानमें जो कुछ है, सो ॐ-कार ही है और तीन कालसे परे जो कुछ है वह भी ॐ कार ही है। इससे भी सिद्ध होता है कि ॐ कार ब्रह्म स्वरूप ही है, क्योंकि ब्रह्मके अतिरिक्त त्रिकाल अबाधित सत्य-स्वरूप दूसरा हो ही नहीं सकता।

हे शिष्य! ब्रह्म चार पाद वाला है; विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तत्पदका लक्ष्य जो तुरीय। जीव भी चार पाद वाला है; विश्व, तैजस, प्राज्ञ और त्वं पदका लक्ष्य जो ईश्वर। वैसे ही प्रणवमें भी चार पाद हैं; अकार, उकार, मकार और अमात्र। ब्रह्मका पहला पाद विराटसे जीवका पहला पाद विश्व अभिन्न है, क्योंकि प्रथम पाद होनेसे दोनोंकी समान्यता है। तथा दोनोंकी उपधि स्थूल है। ब्रह्मका दूसरा पाद हिरण्यगर्भसे जीवका दूसरा पाद तैजस अभिन्न है, क्योंकि दोनों दूसरा पाद रूप सामान्य धर्म वाले हैं तथा दोनोंकी उपाधि सूक्ष्म है। ब्रह्मका तीसरा पाद ईश्वरसे जीवका तीसरा पाद प्राज्ञ अभिन्न है, क्योंकि दोनोंका तीसरा पाद रूप सामान्य धर्म है, तथा दोनोंकी उपाधि कारण है। वैसे ही ब्रह्मका चौथा पाद तत्

लक्ष्य तुरीयसे जीवका चौथा पाद त्वं पदका लक्ष्य ईश्वर अभिन्न है, क्योंकि दोनों चौथा पाद रूप सामान्य धर्म वाले हैं। इस प्रकार मनन करता हुआ जिज्ञासु पुरुष पुनः इस प्रकार मनन करे, विश्व जो विराट स्वरूप है, सो प्रणवके प्रथम मात्रा अकारसे अभिन्न है, क्योंकि अकार भी प्रथम पाद है। तैजस जो हिरण्यगर्भ स्वरूप है, सो प्रणवके द्वितीय मात्रा उकारसे अभिन्न है, क्योंकि उकार भी दूसरा पाद है। प्राज्ञ जो ईश्वर स्वरूप है, सो प्रणवके तृतीय मात्रा मकारसे अभिन्न है, क्योंकि मकार भी तीसरा पाद है। वैसे ही त्वं पदका लक्ष्य ईश्वर जो तत्पदका लक्ष्य तुरीय स्वरूप है, सो प्रणवके चतुर्थ मात्रा अमात्रसे अभिन्न है, क्योंकि अमात्र भी चौथा पाद है।

हे तात जिस कालमें यह आत्मा—स्वर्ग शिर, सूर्य नेत्र, वायु प्राण आकाश धड़, मूत्राशय समुद्र, पाद पृथ्वी और मुख हवन करने वाला अग्नि, इन सात अङ्गोंसे युक्त हुआ, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, चार अंतःकरण—(ये चतुर्दश करण) और पांच प्राण, इन उन्नीस मुखोंसे जागृत अवस्थाका भोक्ता होता है, उस कालमें वहिर्-प्रज्ञ, स्थूल भुक् तथा विश्व नाम वाला होता है। यद्यपि ये अङ्ग तथा ये मुख श्रुतिमें विराटके कहे गये हैं, तथापि विराटका विश्वसे अभेद होनेसे यहां विश्वके ही कहे गये हैं। पूर्वोक्त चतुर्दश करणोंके सहित चतुर्दश करणोंके देवताओंको भी समझना; जिनका वर्णन चौथे परिच्छेदमें किया गया है। विना देवताओंकी सहायतासे जड़ इन्द्रियां पदार्थोंका भोक्ता हो नहीं सकतीं। यही आत्मा जब पूर्वोक्त अङ्गों तथा मुखों द्वारा स्वप्नावस्थामें सूक्ष्म पदार्थोंका भोक्ता होता है, तब अंतःप्रज्ञ, सूक्ष्म-भुक् तथा तैजस नाम वाला होता है। यहां सूक्ष्म भोग होनेसे अङ्ग तथा मुख भी सूक्ष्म ही रहते हैं। जिस कालमें चौदहो करण अपने अपने देवताओंके साथ सुषुप्ति अवस्थामें सूक्ष्म रूपसे अज्ञानांशमें लय होकर घनीभूत हो जाते हैं, उस कालमें स्थूल तथा सूक्ष्म भोगोंके नष्ट हो जानेके कारण यह आत्मा अपने आनन्द स्वरूपका भोक्ता होता है, तब न अन्तः प्रज्ञ, न वहिः प्रज्ञ, आनन्द भुक् तथा प्राज्ञ नाम वाला

होता है। प्रज्ञ कहते हैं दृष्टिको अथवा ज्ञानको। यह आत्मा जागृत अवस्थामें बाहर दृष्टि रखता हुआ बाहरी पदार्थोंका ज्ञान करता है, अतः जागृत अवस्थामें बहिः प्रज्ञ वाला कहलाता है। स्वप्न अवस्थामें अन्तर ही दृष्टि रहनेसे अन्तः प्रज्ञ कहलाता है। और सुषुप्ति अवस्थामें न बाहर दृष्टि रहती है, न भीतर, किन्तु अपने आनन्द स्वरूप हो का ज्ञान करता है, इसलिए यह आत्मा न बहिः प्रज्ञ, न अन्तः प्रज्ञ वाला कहलाता है; बल्कि आनन्द भुक् कहलाता है। अब लय चिंतनका वर्णन करते हैं। विराटको हिरण्यगर्भमें लय करे, विश्वको तैजसमें और अकारको उकारमें। पुनः हिरण्यगर्भको ईश्वरमें लय करे, तैजसको प्राज्ञमें और उकारको मकारमें। पुनः ईश्वरको तत्पदका लक्ष्य शुद्ध चेतन (तुरीय) में लय करे, प्राज्ञको त्वं पदका लक्ष्य ईश्वरमें और मकारको अमात्रमें। हे सोम्य! ईश्वरका लक्ष्य तुरीय होनेसे ईश्वर तुरीय स्वरूप ही हैं और अमात्र भी तुरीय स्वरूप है, यह वार्ता पहले कह आये हैं। एक ही तुरीय स्वरूप शुद्ध चेतन समष्टिस्थूलउपाधि, समष्टिसूक्ष्मउपाधि और समष्टिकारणउपाधि करके विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर करके कहा गया हैं। और वही चेतन—व्यष्टिस्थूल उपाधि व्यष्टिसूक्ष्मउपाधि और व्यष्टिकारणउपाधि करके विश्व, तैजस और प्राज्ञ करके कहा गया है। वैसे ही तुरीय स्वरूप जो अमात्र है, वही अकार, उकार और मकार रूपी उपाधियोंमें व्याप्त होकर अकार, उकार और मकार कहलाता है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकसे उपासक पुरुष एक शुद्ध चेतनका ही अभेद रूपसे उपासना करे कि वह शुद्ध ब्रह्म मैं हूं।

हे शिष्य! इस प्रकार जो प्रणवकी उपासना द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है, वह जन्म-मरणसे रहित होकर ब्रह्ममय हो जाता है। यदि पूर्ण रूपसे साक्षात्कार नहीं हुआ, शरीर छूटने पर पुनः मनुष्यका शरीर धारण कर पूर्वाभ्याससे साधनको ओर खींच जाता है और पुनः अभ्यास द्वारा साक्षात्कार कर लेता है। और यदि इस अहंग्रह रूपी प्रणवकी उपासना करनेमें विषयोपभोगकी कामना रूपी

प्रतिबंधकतासे साक्षात्कार नहीं हुआ, तो वह पुरुष उत्तरायण मार्गसे होता हुआ हिरण्यगर्भके लोकको प्राप्त होता है। वहाँ ब्रह्म लोकका ऐसा प्रभाव हैं कि वहां प्राप्त हुआ पुरुष जैसे पदार्थोंकी तथा जैसे शरीरोंको इच्छा करता है वैसे ही पदार्थों तथा वैसे ही शरीरोंकी प्राप्ति हो जाती है।

शंका—हे भगवन्! उस ब्रह्म लोकमें क्या विशेषता है कि वहां पहुंचा हुआ पुरुष जैसी इच्छा करता है वैसा ही हो जाता हैं।

समाधान—हे शिष्य! वह ब्रह्म लोक शुद्ध सतोगुण प्रधान है; वहाँ रजोगुणके कार्य राग, चिन्ता, तृष्णा इत्यादि और (तमोगुणके कार्य निन्द्रा, आलस्य) प्रमाद, अहंकार, द्वेष इत्यादि नहीं होते; किन्तु सदा सतोगुणका उदय रहनेसे प्राणी सत्य संकल्पवाला हो जाता है। वहां ब्रह्माके साथ ब्रह्माकी आयु पर्यलन्त दिव्य भोगोंको भोगकर पुनः ब्रह्मासे उपदेश लेकर निज आत्म स्वरूप ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्माके साथ ही ब्रह्ममें लय हो जाता है। यदि उस ब्रह्म लोकमें जाकर भी अभाग्य वशात् सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा हुई, तो वह पुरुष श्रीमान् राजाओंके पवित्र कुलमें जन्म लेता है। हे तात! कल्याण कर्म करने वालेकी दुर्गति कभी भी नहीं होती।

शंका—हें प्रभो! कल्याण कर्म क्या है?

समाधान—कल्याण स्वरूप होनेसे अपने आत्म प्राप्तिके लिये जो कुछ किया जाय, वह कल्याण-कर्म कहलाता है। गुरु मुखसे इस प्रकार श्रवण करके प्रसन्न होता हुंआ गद्गद् कंठसे शिष्य बोला—हे कृपालो! आपके मुखारविन्दसे प्रणवकी महिमा श्रवण करके मेरा मन तृप्त नहीं होता, अतः यदि आप मुझे इस विषयको श्रवण करनेका अधिकारी समझते हों, तो पुनः कहें। इस प्रकार श्रद्धा युक्त शिष्यके वचनको श्रवण कर महात्मा बोले—हे तात! यह प्रणव ब्रह्म-स्वरूप होनेसे अनन्त है और इसकी महिमा भी अनन्त है। इस महा मन्त्रकी महिमाको शेष, शारदा, श्रुति अहर्निशि कथन करते करते अन्त न पाकर 'न इति' का आश्रय लेते हैं, तब अस्मदादिकोंको वर्णन करनेमें

क्या सामर्थ्य है ? तथापि तुझ श्रद्धालुके प्रति कुछ और वर्णन करता हूं, सावधान होकर श्रवण करो। एक समय ब्रह्माजी तीन लोक चौदह भुवन मय जो ब्रह्माण्ड है, उस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत प्राणियोंको त्रिविध तापोंसे तथा जन्म मरण रूपी दुःख करके दुखित देख कर परम करुणा को प्राप्त हुए। और क्लेश निवृत्तिका उपाय सोचकर विचार रूपी तपसे तीनों लोकोंको तपाया अर्थात् यह विचार करने लगे कि इन लोकोंके अधिष्ठाता कौन हैं ? तो ज्ञात हुआ कि भूः लोक जो पृथ्वी है, उसका अधिष्ठाता अग्नि है. भुवः लोक जो आकाश है, उसका अधिष्ठाता वायु है और स्वः लोक जो स्वर्ग है, उसका अधिष्ठाता सूर्य है। फिर तप द्वारा विचार करने लगे कि इन तीन देवोंमें क्या सार वस्तु है? तो अग्निसे ऋग् वेद प्रगट हुआ, वायुसे यजुर्वेद, और सूर्यसे सामवेद प्रगट हुआ। फिर तप करके विचार करने लगे कि इन वेदोंमें क्या तत्व है ? तो ऋग्वेदसे अ निकला, यजुर्वेदसे उ और सामवेदसे म प्रगट हुआ। फिर तप द्वारा विचारने लगे कि इन अक्षरोंमें क्या सार तत्व है ? तो ज्ञात हुआ कि अकारमें ऋग्वेद, अग्नि देवता, भूः व्याहृति और नीचेके सातों लोक तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, और पताल जीवोंके सहित हैं। और उकारमें यजुर्वेद, वायु देवता, भुवः व्याहृति और जीवोंके सहित अन्तरिक्ष ये सब विराजमान हैं, तथा मकारके अन्तर्गत सामवेद, सूर्य देवता, स्वः व्याहृति और उपरके सातों लोक—भूःलोक, भुवः लोक, स्वः लोक, मह लोक, जन लोक, तप लोक, और सत्य लोक-प्राणियोंके सहित विद्यमान हैं। इस प्रकार अकार, उकार और मकारके अन्तर्गत ही अखिल ब्रह्माण्ड स्थित दिखलाई देने लगा। हे प्रिय ! अ, उ, म ये तीनों मिलकर ॐ होता है। ब्रह्माने समझा कि यह ॐ कार इस जगतमें ओत-प्रोत है, यहीं सबका अधिष्ठाता है, इसीकी उपासना करनेसे प्राणी क्लेशोंसे मुक्त हो सकते हैं। इस ॐकारकी उपासना किस प्रकार की जाय ? इस प्रकार विचार करके ब्रह्मा नेत्र द्वारा देख करके ही उपासना करने लगे, तब असुर आकर नेत्रमें प्रवेश कर गये। इस

लिये नेत्र पहले अच्छे ही पदार्थ देखते थे, सो अब बुरे भी देखने लगे। यहां असुर बुरे संकल्पोंको कहा गया है, जिसे बुरी भावना अथवा बुरी वृत्ति भी कहते हैं। जब ब्रह्मा इस प्रणवका स्पर्श करके उपासना करने लगे, तब असुर त्वचामें प्रवेश कर गये, जिससे त्वचा बुरे पदार्थ भी स्पर्श करने लगी। जब ब्रह्मा सूंघ करके इस प्रणवकी उपासना करने लगे, तब असुर आकर घ्राणमें भी प्रवेश कर गये, जिससे घ्राण बुरे पदार्थोंको भी सूंघने लगा। जब ब्रह्मा इस प्रणवको श्रवण करके उपासना करने लगे, तब असुर आकर श्रोत्रमें भी प्रवेश कर गये, जिससे श्रोत्र बुरे शब्दोंको भी श्रवण करने लगे। जब ब्रह्मा इस प्रणवको स्मरण द्वारा उपासना करने लगे, तब असुर मनमें प्रवेश कर गये, जिससे मन बुरा भी संकल्प करने लगा। इस प्रकार हे शिष्य! प्रजापतिने जिन-जिन इन्द्रियों द्वारा इस प्रणवकी उपासना करना प्रारम्भ किया, उन-उन इन्द्रियोंमें असुरोंने प्रवेश करके उपासना करनेमें विघ्न कर दिये अर्थात् यथार्थ उपासना न होने दी। तब ब्रह्माने वाक् इन्द्रिय द्वारा उच्चारण करके ही इस प्रणवकी उपासना प्रारम्भ की, तब तो असुर ऐसे तितर बितर हो गये, जैसे दृढ़ वृक्ष पर मारा हुआ मिट्टीका ढेला चकना-चूर होकर जहां तहाँ बिखर जाता है। तब ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न होकर मुख द्वारा ही उपासना करके विश्राम को प्राप्त हुए। इसलिये हे प्रिय! चंचल चित वाले उपासकोंको उच्चारण करके ही इस प्रणवकी उपासना करना श्रेष्ठ माना गया है। जो उपासक इस महा मंत्रकी प्रथम मात्रा अकारकी उपासना करता है, वुह शरीरान्त होने पर ऋगवेदकी ऋचाओं करके प्रेरित हुआ इस पृथ्वी लोकसे परे ऊपरको गमन करता है अर्थात् इस पृथ्वी लोकको अतिक्रमण करता है--जीतता है। जो उपासक इस महा मन्त्रके अकार और उकार इन दो मात्राओंकी उपासना करता है, वह पुरुप शरीरान्त होने पर पृथ्वी और अन्तरिक्ष, इन दोनों लोकोंको अति-क्रमण करता है--जीतता है, अर्थात् उस पुरुपको ऋग्वेदकी ऋचाएं पृथ्वी लोकसे ऊपर अन्तरिक्षमें पहुंचा देती हैं और यजुर्वेदकी ऋचाएं

आकाशसे ऊपर स्वर्गमें पहुंचा देती हैं। और जो उपासक इस महा मन्त्रके अकार, उकार और मकार, इन तीन मात्राओंकी उपासना करता है, वह सामवेदकी ऋचाओंसे प्रेरित हुआ आकाश और स्वर्ग इन तीनों लोकोंको अतिक्रमण करता है—जीतता है। अर्थात् शरीर छूटने पर उस पुरुषको ऋग्वेदकी ऋचाएं पृथ्वीसे आकाशमें पहुंचा आती हैं, उसके बाद यजुर्वेदकी ऋचाएं आकाशसे स्वर्ग लोकमें पहुंचा आती हैं। उसके बाद सामवेदकी ऋचाएं स्वर्ग लोकसे भी परे पहुंचा आती हैं। यहां ऋचाओंसे मतलब ऋचाओंके सम्बन्धी अधिष्ठाता देवताओंसे जानना चाहिये। इस प्रकार तीन लोकोंसे परे गया हुआ वह पुरुष ईश्वरत्वको प्राप्त हुआ तीनों लोकोंका स्वामी, सर्व साक्षी, सत्य संकल्प वाला तथा नित्य मुक्त होता है। हे प्रिय! अति गुह्यसे भी गुह्य इस प्रणवकी उपासनाको मैंने तुझसे आज कहा। यह प्रणव महात्माओंका गुह्य धन तथा प्राण है। इसे अनाधिकारियोंके प्रति कदापि नहीं कहना चाहिये। क्योंकि किसी कालमें ब्राह्मणोंके प्रति ब्रह्म विद्याका शाप हुआ है कि—हे ब्राह्मणों मुझे अनाधिकारियोंके प्रति उपदेश करके वेश्या न बनाना, किन्तु मुझे अधिकारीके ही प्रति प्रतिपादन करके सौभाग्यवती—सती-शिरोमणि—साध्वीकी तरह रखना। यदि तुम लोग मेरी वाणीका अनादर करके अनाधिकारीके प्रति मुझे प्रदान करोगे, तो तुम्हारी विद्या वंध्या-स्त्रीकी तरह निष्फल हो जायगी, जिससे आत्म विस्मृति होकर बार बार जन्म मरण रूपी क्लेशकी प्राप्ति होगी।

शंका ?—हे दयालु गुरो! ब्रह्म विद्याका अधिकारी कौन है?

समाधान—जो मन तथा इन्द्रियोंको वशमें करने वाला हो, आलस्य तथा प्रमादसे रहित हो, गुरु और शास्त्रमें श्रद्धा तथा विश्वास रखने वाला हो और किसीकी भी निन्दा न करता हुआ चतुष्टय-साधन सम्पन्न हो इत्यादि। हे तात! जिसे इन लक्षणोंसे युक्त देखना, उसीको ब्रह्म विद्याका अधिकारी समझना। इन लक्षणोंसे परे विप-

रीत लक्षण वालोंको कभी न तो ब्रह्म विद्याका उपदेश देना और न उनका सङ्ग ही करना, क्योंकि इनका साथ रजोगुण और तमोगुणको उत्पन्न करने वाला है। इसप्रकारकी प्रणवकी महिमा तथा ब्रह्म विद्याके अधिकारीका लक्षण वर्णन करके वे महात्मा मौन धारण कर स्थित हो गए।

आठवां परिच्छेद

शरीर छूटने पर प्राणियोंकी क्या दशा होती है
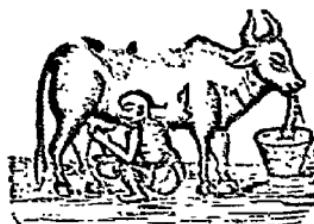
गुरुकी विवेक मय वाणीसे अत्यधिक प्रसन्न होकर एवं, युगल कर जोड़ तथा शीश नवा कर शिष्यने पुनः कहा—हे भगवन्! मैं यह जानना चाहता हूं कि शरीर छूटने पर प्राणियोंकी क्या दशा होती है?

इस प्रकार शिष्यके सविनय प्रश्न श्रवण कर श्री गुरु महाराज बोले—हे शिष्य! प्राणियोंकी गति कर्मानुसार तथा वासनानुसार होती है। इस संसारमें दो प्रकारकी वस्तु है, प्रथम प्रेय और द्वितीय श्रेय। प्रेय कहिये इह लोक तथा परलोक-स्वर्गके भोगोंकी प्राप्ति, और श्रेय कहिये अपने स्वरूपकी प्राप्ति।

कर्म-कांड रूपी श्रुतिका पुर्व भाग तथा स्मृति अनुसार इष्ट तथा पूत रूपी सकाम कर्मों द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

शंका—हे भगवन्! इष्ट तथा पूर्त कर्म कौन हैं?

समाधान—अग्नि होत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते। नित्य अग्निहोत्र करना, तप करना, सत्य बोलना, वेद विहित कर्मोंका पालन करना, अतिथिका सत्कार और बलि वैश्वदेव करना, ये कर्म इष्ट करके कहे गये हैं। तथा "वापी कूप तड़ागादि देवतायतनानिच। अन्न प्रदानमारामः पूर्त मित्यंभिधीयते॥ वापी, कूप तड़ागादिका बनवाना, देव मन्दिरोंको बनवाना अन्न प्रदान कहिये क्षेत्रोंका निर्माण करना और बगीचा लगाना, ये कर्म पूर्त्त करके कहे गये हैं। हे शिष्य! इन इष्ट और पूर्त्त कर्मोंको शास्त्र विहित करके सकामी पुरुष दक्षिणायन मार्ग से स्वर्गको जाता

है, जिस मार्गको पितृयाणमार्ग भी कहते हैं। वहां अपने पुण्य कर्म पर्यन्त स्वर्ग सुख भोग कर पुनः जिस मार्गसे गया रहता है उसी मार्गसे लौट आता है। यदि किञ्चित् पुण्य शेष रहा, तब तो मृत्यु-लोकमें मनुष्यका शरीर मिला, नहीं तो पापवशात् कीट, पतङ्ग, वृक्षादिका शरीर धारण कर पुनः महा क्लेशका अनुभव करता है। और आत्म प्राप्ति रूप श्रेयकी कामना करने वाला जिज्ञासु पुरुष श्रुतिके उत्तरकांड रूप साधन चतुष्टय द्वारा आत्माका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करके जीवन मुक्त तथा विदेह मुक्त अवस्थाको प्राप्त करके आनन्द पूर्वक विचरते हैं। और शरीरान्त होने पर उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरसे बाहर निकल कर गमन नहीं करता, किन्तु कारण रूप अज्ञान के नष्ट हो जानेके कारण स्थूल शरीरके भीतर ही शान्त हो जाता है। हे प्रिय! यदि उस जिज्ञासु पुरुषका शरीर, आत्माका उपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति किये बिना ही छूट गया, और साधन तीव्र हुआ है, तो वह पुरुष उत्तरायणमार्ग से ब्रह्म लोकको प्राप्त होता है; उस मार्गको देवयानमार्ग भी कहते हैं। वहां यदि सांसारिक विषयोपभोगकी इच्छा हुई, तब तो जिस मार्गसे गया रहता है, उसी मार्गसे पुनः लौट आता है, नहीं तो ब्रह्माकी आयु पर्यन्त जीवन मुक्त होकर वहां ही आनन्दको भोगता है, पुनः ब्रह्मासे अपरोक्ष ज्ञान पाकर ब्रह्माके साथ ही ब्रह्ममें लय हो जाता है।

शंका ?— हे भगवन्! शास्त्रमें कई स्थानों पर पाया जाता है कि देवयानमार्ग से गया हुआ प्राणी पुनः नहीं लौटता, किन्तु पितृयाणमार्ग से हो गया हुआ प्राणी पुनः लौटता है।

समाधान—हे शिष्य! यह ब्रह्मांड वास्तवमें कुछ नहीं है, किन्तु यह स्म्पूर्ण जगत मनका रचा हुआ है। जैसे मृतिकासे बना हुआ घट मृतिका रूप ही है तथा तन्तु–सूत्रोंसे बना हुआ पट सूत्र रूप ही है, इनको घठ, पट, देखना तथा कहना ही अपराध है और मृतिका, सूत्र देखना तथा कहना यथार्थ है। वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्मसे बना हुआ ब्रह्म रूप हो है, इसको नानात्व जगत रूपसे देखना

अपराध है और एक ब्रह्म रूपसे देखना यथार्थ है। जिसका मन स्वर्गकी वासना लिये रहता है, उसे पितृयाणमार्ग प्राप्त होता है और जिसके मनमें ब्रह्म लोककी सत्यताका भान तथा कामना है, उसे देवयाणमार्ग प्राप्त होता है। स्वर्ग लोक और ब्रह्म लोकमें यह विशेषता है कि स्वर्ग लोकमें जाकर नहीं इच्छा रहते हुए भी पुण्य चुक जाने पर मृत्युलोकमें आना पड़ता है और ब्रह्मलोकसे सांसारिक विषयोपभोगकी इच्छा होने ही पर लौटना पड़ता है; इच्छाके बिना कदापि नहीं लौटना पड़ता। शास्त्रोंमें जो नहीं लौटना कहा है, सो अनिच्छित प्राणीके लिये ही कहा है। इच्छित पुरुषके लिये ही तो निर्देश करके भगवानने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—आब्रह्म भुवन्नाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन। हे अर्जुन! पृथ्वी लोकसे ब्रह्मलोक पर्यन्त जाकर पुनः लौटना पड़ता है। जिस जिज्ञासु पुरुषको ब्रह्म लोककी इच्छा नहीं है, और ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान बिना हुए ही शरीर पात हो गया, वह जिज्ञासु पुरुष ब्रह्मलोकमें न जाकर पुनः मनुष्य शरीर पाता है। क्योंकि उसके अन्तः करणसे शरीर तथा जगतका अध्यास नहीं छुटा है। वहां पूर्वा भ्यासके बलसे पुनः ब्रह्म प्राप्तिके लिये यत्नमें फिर लग जाता है, और अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करके वृत्तिको ब्रह्माकार कर देता है, पुनः उसको दृष्टिमें शरीर तथा जगत न रहनेसे शरीरान्तके बाद उसका जन्म नहीं होता। हे भगवन्! आपने जो दक्षिणायन और उत्तरायण मार्गोंका नाम लिया था, उनको मैं सविस्तार श्रवण करना चाहता हूं।

उत्तर—हे शिष्य! इष्ट पूर्तिको करने वाला सकामी पुरुषका जब शरीर छूटता है, तो शीघ्र ही वह धूम * को प्राप्त होता है, इसके बाद

* यहां धूम, रात्रि इत्यादिकोंको प्राप्त होनेका मतलब है धूमादिकोंके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होनेका। अर्थात् जिन देवताओंको ऐसा अभिमान रहता है कि मैं धूम हूं, मैं रात्रि हूं इत्यादि। वे देवता एक दूसरेके ऊपर रहते हैं। पितृयाण मार्गसे जाने वाले प्राणीको प्रत्येक देवता अपनेसे ऊपर वाले देवताके पास पहुंचा देते हैं।

रात्रिको प्राप्त होता है, इसके बाद कृष्ण पक्षको प्राप्त होता है, इसके बाद षण्मास दक्षिणायनको प्राप्त होता है, इसके बाद संवत्सरको प्राप्त होता है, इसके बाद पितृ लोकको प्राप्त होता है, इसके बाद आकाशको प्राप्त होता है, इसके बाद चन्द्र लोकको प्राप्त होता है, इसके बाद स्वर्ग लोकको प्राप्त होकर देवताओंके भोगोंको भोगता हैं और पुण्यके चुक जाने पर वहांसे पतन होकर आकाशको प्राप्त होता है, आकाशसे वायु होता है, वायुसे धूम होता है, धूमसे मेघ होकरके जलके रूपमें बरसता है, जिससे पृथ्वी पर अन्न, औषधि, लता, वृक्षादि होता है, यहां वही अन्न, औषधि, लता, वृक्षादिके रूपमें रहता है। वे अन्नादिक प्राणियों करके भक्षण किये हुए, प्राणियोंके शरीरमें रज तथा वीर्यके रूपमें स्थित होता है। पुनः स्त्री-पुरुषके समागम द्वारा गर्भ वास करता है, वहां गर्भ-गत दुखोंको भोग कर पुनः जन्म लेता हैं। हे प्रिय! अपने कर्मानुसार तथा वासनानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णोंमें अथवा श्वान, शृगालादि नीच योनियोंमें अथवा कीट पतङ्गादिके रूपमें जन्म लेता है। हे शिष्य! पितृयाण मार्गका मैंने सविस्तार वर्णन किया, अब देवयान मार्गका सविस्तार वर्णन करता हूं, सावधान होकर सुनो। जो प्राणी जङ्गलमें निवास करता हुआ श्रद्धापूर्वक तपादि साधनोंको करता है, वह शरीर छूटने पर शीघ्र ही अग्निको प्राप्त होता है, यहां अग्नि आदिसे अग्नि आदिके अभिमानी देवताओंसे मतलब है। अग्निके बाद ज्योतिको प्राप्त होता हैं, इसके बाद दिनको प्राप्त होता है, इसके बाद शुक्ल पक्षको प्राप्त बोता है, इसके बाद षण्मास उत्तरायणको प्राप्त होता है, इसके बाद संवत्सरको प्राप्त होता है, इसके बाद चन्द्रमाको प्राप्त होता है, इसके बाद विद्युत होकर कुछ काल तक चमकता रहता है, इसके बाद एक अमानव पुरुष आकरके उस पुरुषको ब्रह्मलोकमें ले जाता है, वहां जाकरके वह प्राणी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है; पुनः लौटता नहीं।

शंका ?—हे भगवन्! ये दोनों माग तो हैं शास्त्र विहित आचरण करने वाले सकामी तथा निष्कामी पुरुषोंके लिये, किन्तु जो प्राणी

शास्त्रसे विपरीत निषेध कर्म करने वाला है, उसकी क्या गति होती है?

समाधान—हे सौम्य! वह प्राणी पूर्वोक्त दोनों मार्गोंसे पतित हुआ योजन भरसे ऊर्ध्वगमन नहीं करता; किन्तु इस पृथ्वी लोक ही में श्वान, शृगाल, शूकर, कीट, पतङ्ग, वृक्षादिका शरीर धारण कर महा क्लेशको भोगता है। हे प्रिय! जो शास्त्र मर्यादाको उल्लङ्घन करके स्वेच्छा विचरता है, वह वार-वार चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण करता है। और जो साधन चतुष्टय तथा श्रवण, मनन निदिध्यासन द्वारा अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेता है, उसका प्राण तो और प्राणियोंकी तरह लोकान्तरको प्राप्त नहीं होता, किन्तु शरीर पात होते ही अपना अधिष्ठान जो ब्रह्म, उसका स्वरूपही हो जाता है। इस प्रकार जगतमें चार प्रकारके प्राणी होते हैं; सकामी निष्कामी, शास्त्र-विमुखी और ज्ञानी।

प्रश्न ?—हे भगवन्! किस किस अङ्गसे प्राण निकलनेसे प्राणी कौन-कौन गतिको प्राप्त होता है।

उत्तर—हे सौम्य! कपालके मध्यमें जो छिद्र है—जिसे दशवां द्वार कहते हैं। यदि उस मार्गसे प्राण निकले, तो प्राणी ब्रह्मलोकको जाता है। यदि नेत्रोंसे प्राण निकले तो सूर्य अथवा चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। यदि श्रोत्रसे प्राण निकले तो गंधर्व होता है। यदि घ्राणसे प्राण निकले तो मधुकर होता है। यदि नाभीसे प्राण निकले तो प्रेत होता है। यदि उपस्थमें प्राण निकले तो कपोत कुक्कुट इत्यादि पक्षी होता है। यदि गुदासे प्राण निकले तो यमपुरीको प्राप्त होता। इस प्रकार हे शिष्य! जिसकी जैसी वासना रहती है, उसके अनुसार ही शरीर छूटता है। अन्ते या मतिः सा गतिः। मरणान्तमें जिसकी जैसी मति रहती है, उसकी वैसी ही गति होती है।

प्रश्न ?—हे कृपालो! शास्त्रमें वर्णन है कि जिस प्रकार तृण पर का रहने वाला कीट (कीड़ा) पहले, दूसरे तृणको ग्रहण कर लेता है, तब प्रथम तृणको त्यागता है, वैसे ही यह जीव पहले, दूसरे शरीरको

ग्रहण कर लेता है, तब प्रथम शरीरको त्यागता है सो यह वार्ता कैसे मानी जाय ? अस्मदादिकोंके देखनेसे तो यह प्रतीत होता है कि जब तक जीव इस शरीरमें रहता हैं, तब तक अन्य शरीरको ग्रहण नहीं करता, और जब इस शरीरको परित्याग करके अन्यत्र चला जाता है, तब इस शरीरमें नहीं रहता।

उत्तर—हे सौम्य ! जब शरीर पात् होनेका समय निकट आता है, उस कालमें यह जीव मूर्च्छाको प्राप्त होकर कुछ समय तक पड़ा रहता हैं। उस समय अपने परिवार वालोंके तथा अपने साथियोंको तथा जो प्राणी समीपमें रहते हैं, उनको न तो देखता है, और न उनका बात श्रवण करता है। फिर मूर्च्छासे जाग कर भी किसीको नहीं देखता; किन्तु अपनी जीवन पर्यन्तकी वासना-कामना-मनोवांछित शरोरको देखने लगता है। हे प्रिय ! उस प्राणीके कर्मानुसार ईश्वर जहां पर जिस गर्भमें शरीर निर्माण कर रक्खा है, उसे ही देखने लगता है; यद्यपि वह जीव अभी प्रथम ही शरीरमें रहता है। आगामी द्वितीय शरीर उसे अत्यन्त सुन्दर तथा प्रिय प्रतीत होने लगता है, बारम्बार उसीमें प्रवेश करना चाहता है। बुद्धिसे उसीमें जानेका निश्चय करता है, चित्त बार-बार चिन्ता करने लगता है कि उस शरीरमें कब जाऊंगा, अहंकारसे बार अहंकार करने लगता है कि यह शरीर मेरा है, चाहे वह शरीर कूकर-शूकरका अथवा कीट पतगका ही क्यों न हो। और प्रथम शरीर उसके लिए घृणित सा तथा भयङ्कर प्रतीत होने लगता है। अब उसमें क्षण मात्र भी नहीं रहना चाहता; चाहे यह शरीर सुन्दर मनुष्यका ही क्यों न हो। जितने क्षण प्रारब्ध शेष रहती है, उतने क्षण इस प्रथम शरीरमें रह कर दूसरे शरीरमें यह प्राणधारी जीव प्राण समेत प्रवेश कर जाता हैं। हे तात ! यह शुद्ध चेतन पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च प्राण और चार अन्तःकरण, इन उन्नीस तत्वोंका जो सूक्ष्म शरीर है, उसीमें पड़ करके अर्थात् उसीके संयोगसे जीव संज्ञाको प्राप्त हुआ है। इस जीवका यह सूक्ष्म शरीर है, इस लिए प्राणान्तके निकटमें मन करके दूसरे शरीरको ग्रहण करनेसे इस जीवका

ग्रहण करना शास्त्रने कहा है। क्योंकि पूर्वोक्त उन्नीस तत्वों वाला सूक्ष्म शरीरमें मन भी है। जैसे तृण परका कीट (कीड़ा) अपने और अङ्गोंसे दूसरे तृणको पकड़ता है, और अपने अन्य अङ्गोंसे प्रथम तृणको ग्रहण किये रहता हैं। वैसे ही यह जीव अपने मन, बुद्धि, अहं-कार और चित्त रूपी अङ्गों करके दूसरे शरीरको ग्रहण करता हुआ भी पञ्च कर्मेन्द्रिय पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च प्राण रूपी अङ्गोंसे प्रथम शरीरको ग्रहण किये रहता है। हे सौम्य ! तुम्हारे पूछने पर यह सब वार्ता मैंने कथन किया, नहीं तो, आत्म तत्वके सिवा और कुछ नहीं है। यथा—

सवैया

इह लोक नहीं पर लोक नहीं,
विधि लोक नहीं नहिं इन्द्र विलासे।
सुरयान नहीं नहिं दक्षिण मारग,
भ्रान्ति सबै जहवां लगि भासे॥
तुझमें नहिं बन्धन मोक्ष कहां,
तव ज्ञान कहां नहिं अज्ञ तिवासे।
सुख रूप अनूप सुनो शिष है,
निज आतम अपुहिं आप प्रकासे॥

अर्थ स्पष्ट

इस लिये हे शिष्य! सम्पूर्ण कल्पनाएं छोड़ कर केवल अपने आतम स्वरूपमें स्थित हो जा।

नववां परिच्छेद

साधकका कर्त्तव्य

साधकको चाहिये कि प्रथम साम्प्रदायिक आग्रहको छोड़े, कि हमारा संप्रदाय तथा हमारे इष्ट देव श्रेष्ठ हैं, शेष निन्दनीय हैं। क्योंकि रुचि वैचित्र्यके कारण, महर्षियोंने एक ही परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये लक्ष्यमें अन्तर न रखकर, सुगमताकी दृष्टिसे अनेक सम्प्रदाय तथा अनेक उपासनाएं निर्मित की हैं। वाद विवादको त्यागे, क्योंकि परमात्म-तत्वके विचारकेलिये शास्त्र हैं, न कि वितंडा-वाद द्वारा किसीके आत्माको कष्ट पहुंचानेके लिये, हां; कहीं शास्त्रमें संदेह हो, तो मनन शील, शान्तिमान् पुरुषसे नम्र प्रश्न द्वारा दूर कर ले। शाप-आशीर्वाद, झाड़-फूंक, लड़का-लड़की देना, और जड़ी-बूटी इत्यादिके फेरमें पड़ना साधकके लिये महा व्याधि है। वहुत भ्रमण करना अथवा तीर्थोंकी कल्पना करना भी अभ्यासीके लिये बाधा है। हां, यदि श्राद्धा हो, तो जहां-तहां तीर्थ कर भी ले, परन्तु इसीमें समग्र आयु गत करना भी ठीक नहीं है। मन और इन्द्रियोंको सर्वदा वशमें रक्खे, इन्हें वशमें करनेके चार साधन मुख्य हैं। सात्विक आहार, सत्संग, वैराग्य और अभ्यास। इनमें तैल, खटाई, मीच, मिर्चा, गरम मसाले, अति रामरस, अत्यन्त गरम पदार्थ, वासी तथा जूठा भोजन, मांस और नशीली वस्तुएं इत्यादि रजोगुण तथा तमोगुणी पदार्थोंको त्याग कर चावल यव, गेहूं, दूध, घी, मक्खन शक्कर, अरहर, मूंग, चना इत्यादि की दाल कद्दू, परवर, आलू, करैला इत्यादिके साक, इत्यादि सतोगुणी पदार्थोंका भोजन, सात्विकी आहार कहलाता है। भोजन किये पदार्थका तमोगुणी भाग जो स्थूल है, वह मल-मूत्र होकर निकल जाता है, रजोगुणी भाग जो मध्यम है, वह शरीरमें रुधिर होता है और सतोगुणी भाग जो सूक्ष्म है, वह मन होता है, इस लिये मनकी शुद्धिके

लिये आहारकी शुद्धि होनी परमावश्यक है। सत्संगसे लाखों कुवि-चार नष्ट होकर मनमें सुन्दर-सुन्दर भाव उदय होने लगते हैं, अपनी भूलें समझमें आ जाती हैं, मन कुमार्ग छोड़कर, सुमार्गके लिए उत्सुक हो जाता हैं और अल्प कालमें ही अपने लक्ष्य स्थान पर पहुंच जाता है। बार-बार विषयोंमें दोषारोपण करना, घृणा करना, उनसे उपरामताके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करना तथा रोना, इस प्रकार करनेसे प्रारब्धानुसार प्राप्त विषयोंसे धीरे-धीरे आसक्ति छूट जायेगी, तब प्रारब्धको भोग द्वारा निवृत्त करता हुआ भी वासना रहित होनेके कारण बन्धनको प्राप्त न होगा, इसे ही वैराग्य कहते हैं। और बारम्बार अपने ध्येय वस्तुका स्मरण करना, सर्वगुण सम्पन्नकी तथा शाश्वत सुखकी भावना उसी ध्येयमें करना, गुरु उपदिष्ट मंत्रका जप तथा उस मंत्रके अधिष्ठता इष्ट देवका ध्यान करना, अभ्यास कहलाता है। इस प्रकार कुछ काल पर्यन्त निरन्तर करनेसे आपसे आप ही मन तथा इन्द्रियां स्वाधीन हो जाते हैं। ये इन्द्रियाँ बड़ी बलवान हैं, जैसे दुष्ट तथा अत्यन्त चपल घोड़े, रथमें बैठा हुआ मुर्ख सारथीको रथ समेत बल पूर्वक खाईमें पटक देते हैं, वैसे ही चञ्चल इन्द्रियां अन-भ्यासी पुरुषको विषय रूपी खाईमें गिरा कर महा कष्टका अनुभव कराती हैं। इस शरीर रूपी रथमें इन्द्रिय रूपी घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है और आत्मा रथी है, जैसे कुशल सारथी लगामको स्वाधीन किया हुआ, जिधर चाहता है उधर घोड़ोंको दौड़ाता हुआ रथको ले जाता है, वैसे ही कार्याकार्यका विचार करने वाली जो व्यव-सायात्मिका बुद्धि है, वह मन द्वारा इन्द्रियों तथा देहको आत्म प्राप्तिके साधन रूपी सुमार्गमें लगाती हुई, पुरुषको परम कल्याणकी प्राप्ति कराती है। और वासनात्मिका बुद्धिके अधीन मन तथा इन्द्रिय नहीं रहते, अतः इन्द्रियोंके पीछे लगा हुआ मन, इस बुद्धिका नाश कर देता है, जैसे वायु नावको जलमें उथल-पुथल कर देता है। डुबा देता हैं। बुद्धिके नष्ट हो जानेसे पुरुष भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि पुरुषकी सुगति तथा दुर्गति होनी बुद्धि पर निर्भर है। बद्धो बद्धाभिमानी स्यात्

मुक्तो मुक्ताभिमानी नः । किंवदन्तीह सत्येवं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥ साधक पुरुष आठ प्रकारके मैथुनोंको त्यागता हुआ ब्रह्मचर्यकी रक्षा (वीर्य रक्षा) सर्वदा करे। आठ प्रकारके मैथुन ये हैं, स्त्रीका स्मरण करना, नृत्य देखना, हास्य-दिल्लगी करना, उसके रूपको आशक्ति पूर्वक देखना, एकान्तमें वार्तालाप करना, उसके साथ विषयोपभोगके लिए संकल्प करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर और प्रत्यक्ष सहवास करना । जब तक साधन परिपक्व न हो जाय, तब तक पूर्वोक्त आठ प्रकारके मैथुनोंसे निराला रहता हुआ सांसारिक जिन जिन पदार्थोंमें मन तथा दृष्टि जाय उन उन पदार्थोंमें मिथ्यात्व, क्षणिक और दुखकी भावना करे। और जब साधन परिपक्व हो जाय, तब जहां-जहाँ दृष्टि जाय, वहां-वहां एक ब्रह्मको भावना करे। अत्यंत चञ्चल चित्तवाला साधक न तो एकान्त निवास करे, न विषयी प्राणियोंके समीप रहे। इससे मनोविकार बढ़नेकी सम्भावना है। बल्कि ऐसा पुरुष सन्तो सङ्ग तथा सत् शास्त्रोंका अवलोकन करे, तो अच्छा है। अभ्यासीको सदा-सर्वदा निर्भय रहना चाहिये, क्योंकि यह निश्चय है कि बिना खोटी-प्रारब्ध तथा गतायुके न तो कोई क्लेश पहुंचा सकता है और न प्राणका वियोग ही कर सकता है। यदि मृत्यु भी हो जाय, तो क्या क्षति है। इस मृत्युलोकमें कोई अमर होकर थोड़े ही आया हैं, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो किसी और ही दिन, नश्वर शरीरका पात तो होना ही है, फिर आज ही यह शरीर नष्ट हो जाय तो चिन्ता ही क्या है, आत्मा तो कभी मर नहीं सकती, ऐसी धारणा सर्वदा रखे। गुरु तथा शास्त्रमें सर्वदा विश्वास रखे, और ऐसी कल्पना कभी न करे कि साधन कर रहे हैं, न जाने सफलता पायेंगे या नहीं। सफलता अवश्य मिलेगी, यदि संचित-कर्मकी प्रबलता है, तो शीघ्र ही, नहीं; तो चिर कालमें। पूर्व जन्मके पासकी प्रेरणासे साधन विघ्न होते हैं। या तो, चित्त विक्षेपको प्राप्त होता है, या शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उनसे साधक कभी न घबड़ाये, क्योंकि जब हम दृढ़ता पूर्वक साहस रखेंगे, तो सारी विघ्न-बाधाएं भोग द्वारा

निवृत्त हो जायेंगी और एक दिन अपने अभीष्ट पद पर अवश्य पहुंच जायेंगे। सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक परमेश्वरका निवास समझ कर मन, वाणी तथा शरीरसे किसीको कष्ट न पहुंचाये, बल्कि सम्पूर्ण शरीरको भगवानका मन्दिर समझे। किसीके अपराध करने पर भी क्रोध न करता हुआ क्षमा दर्शाये। यदि सचमुच कोई अपने अवगुणोंका कथन करता हो, तो उसे गुरू मान कर अपने अवगुणोंको सुधारे। और जो अन्यथा दोषारोपण करता हो, तो उसी अज्ञानी (बालक) समझ कर क्षमा प्रदान करे। बिना मांगे हुए किसीका एक तृण भी लेना महा पाप है। सर्वदा सत्य बोले, क्योंकि जगतके सभी व्यवहार वाणी द्वारा हुआ करते हैं। जिसने वाणीकी चोरीकी, उसने सर्वस्व चोरी कर चुका। और परमेश्वर भी सत्य स्वरूप ही है। अतः झूठा मनुष्य परमेश्वर पर भी आघात पहुंचाता है। साधकको शौचता पर भी ध्यान देना परमावश्यकता है। जल तथा मिट्टीसे शरीरकी बाहरी शुद्धि होती है और ईश्वरका नाम-स्मरण, प्रणायाम अथवा आत्म-विचार द्वारा भीतरी शुद्धि होती है। वस्त्र तथा वासस्थान सदा स्वच्छ रखे। जिस वर्णमें जन्म हो तथा जो आश्रम प्राप्त हो, उस वर्ण तथा उस आश्रमका धर्म यथा शक्ति निष्काम भावसे—अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये करे, कृच्छ्र-चान्द्रायण, एकादश्यादि तपोंको भी करे। शिव, विष्णु तथा अन्य भगवानके विग्रहका (गुरूके उपदेशानुसार) ध्यान और पूजन करे। इससे शीघ्र ही वैराग्यादि साधन चतुष्टय प्राप्त होता है। यथा—स्ववर्णाश्रम धर्मेण तपसा हरि तोषणात्। साधनं प्रभवेत्पुंसा वैराग्यादि चतुष्टयम्॥ मेरी मुक्ति कब होगी, अर्थात् जन्म-मरण, मृत्यु, जरा, व्याधि और गर्भवास, इन क्लेशोंसे छूट कर परमानन्दको प्राप्त कब होऊंगा, ऐसी भावना सदा-सर्वदा रखे। हम कभी दुख नहीं चाहते, परन्तु समय पाकर आही जाता है, वैसे ही यदि सांसारिक सुख भी इच्छा नहीं करेंगे, तो भी आ ही जाएगा। क्योंकि यह शरीर सुख-दुख रूपी प्रारब्ध भोगने हो के लिये मिला हैं। और सांसारिक सुख-दुख भी परिछिन्न (सीमाबद्ध) होनेके कारण आगमापायी हैं अर्थात्

आने जाने वाले हैं, सदा स्थिर नहीं रहते। इस प्रकार विचार करके सुख-दुखमें समान रहे अर्थात् सुख पाकर अति प्रफुल्लित न हो और दुख पाकर घवड़ाये नहीं।

सवैया

जगमान्य तजे सुकरी विट सों लखि,
नारि पीशाचिनिके सम जाने।
रौरौ समझे ममता, श्वपचै अभिमान,
सदा तनको शव माने॥
सुतको वितको अरु लोकहु को,
न चहै दुख रूप सदा अनुमाने।
सुख-सत्य-प्रभा निज आतम जो,
करिऽभ्यास निरालस हो पहिचाने॥ १॥

भावार्थ—संसारिक प्रतिष्ठाको शूकरीके विष्ठाके तुल्य समझ कर त्याग दे, भाव यह कि मनुष्यके विष्ठाको कुत्ता, काक इत्यादि खा जाते हैं, और पशुओंके मल जो गोबर इत्यादि उनको भी संसार अनेक प्रकारके कार्योंमें लगाता है, परन्तु शूकरीके विष्ठाको तो कोई नहीं पूछता; किन्तु सब घृणा करते हैं। उसी प्रकार जगतकी प्रतिष्ठासे घृणा करे। स्त्रीको पीशाचिनीके तुल्य जानकर उससे दूर रहे। शरीरके ममताको रव रव नर्कके तुल्य समझे; अर्थात् शरीर पर ममता कभी न करे। अहंकारको चाण्डाल तुल्य समझे, प्रत्यक्ष चांडालके स्पर्शसे तो प्राणी स्नान मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं, परन्तु अहंकार रूपी चांडालके स्पर्शसे चिर काल तक अशुद्ध रहना पड़ता है। क्योंकि जब अहंकार दूर नहीं होता है, तब तक आत्मासे विमुख होनेके कारण क्लेश होता रहता है। शरीरको सर्वदा मृतक माने, क्योंकि यह जड़ शरीर मुझ आत्मासे ही चैतन्यसा प्रतीत होता है। पुत्र, धन और

लोक इन तीन ऐषणाओंमें नश्वर होनेसे सदा दुख रूपकी भावना करता हुआ, इन्हें न चाहे। और अपना आत्मा सुख कहिये, आनन्द, सत्य और प्रभा कहिये प्रकाश स्वरूप है, अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप है, उसको आलस्य रहित होता हुआ अभ्यास द्वारा पहिचाने ॥ १ ॥ इस पद्यके तीन पदमें वैराग्यका स्वरूप वर्णित है और चौथे पदमें अभ्यास द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप अपने आत्माको पहिचाननेके लिये निर्देश किया गया है, जो सम्पूर्ण सत् शास्त्रोंका सिद्धान्त है। यद्यपि शिष्यको आठवें परिच्छेदमें ही सम्पूर्ण शंकाएं नष्ट होकर पूर्ण बोध हो गया था, अपने स्वरूपमें स्थित होकर तुष्णी भावको प्राप्त हो गया था, अब आगे वर्णन करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं रह गयी थी, तथापि यह "साधकका कर्तव्य" रूप जो नववां परिच्छेद है, उसमें साधकका कर्तव्यका वर्णन विस्तार रूपसे किया गया है, जिसके आचरणसे शीघ्र ही बोध होगा। और विचार करके देखिये तो इस परिच्छेदमें समस्त "आत्म प्रकाश" का उपसंहार भी हो गया है।

दसवां परिच्छेद

कुछ जानने योग्य बातें

श्रवण, मनन और निदिध्यासन युक्त जो मन शुद्ध है, सो गुरु उपदिष्ट महा वाक्य रूप शब्द प्रमाणसे अद्वितीय आत्माको साक्षात्कार करता है।

शास्त्र जन्य प्रमा ज्ञान करके निवृत्त होने योग्य जो अज्ञान है, उस अज्ञान करके जो पदार्थ आवृत्त है, सो पदार्थ उस शास्त्रका विषय है। ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्

जो वस्तु दृश्य, परिच्छिन्न और जड़ है, वे अनात्म हैं,।

यदि माया ब्रह्मको सर्व ओर से आच्छादितकी रहती, तो हर एक पदार्थमें अस्ति, प्रिय और भातिकी प्रतीति नहीं होती।

सुख शब्दका मुख्य मतलब आत्म सुखसे ही है, विषय सुख तो गौड़ हैं।

विद्या शब्दका मुख्य मतलब आत्म ज्ञान द्वारा अविद्या (अज्ञान) की निवृत्तिसे ही है, अन्य विद्या तो गौड़ हैं।

अनुभव किये हुए विषय जन्य सुखको कोई बिना प्रमाणके साक्षात् कथन नहीं कर सकता, तो आनन्द स्वरूप आत्माको साक्षात् कथन करनेमें कौन समर्थ है?

सर्व भेदसे रहित सत् चित् आनन्द स्वरूप जो आत्मा है, उसको विषय करने वाली तथा महावाक्यसे उत्पन्न हुई जो चैतन्यके आभास सहित अन्तःकरणकी वृत्ति है, उसे ब्रह्म विद्या कहते हैं।

समष्टि अज्ञान रूपी कारण उपाधि वाला ईश्वरमें अहं नहीं होता, इसलिये मायाका बल नहीं लगता। क्योंकि अहंकारमें ही अरूढ़ होकर माया अपना बल दिखाती है।

समष्टि सूक्ष्म उपाधि वाला हिरण्यगर्भमें किञ्चित अहंकार रहता है, अतः यहां मायाका किञ्चित् बल भी लगता है।

अहङ्कारके न रहनेसे ईश्वरको सदा वेदान्त तथा अपने स्वरूपकी स्मृति रहती है और हिरण्यगर्भको पूर्व जन्मोंके पुण्य, साधन चतुष्टय तथा गुरूके विना हीं किञ्चित् वेदान्तके विचार द्वारा आत्म ज्ञान होता है।

विराट, भगवान कपिल मुनि तथा सनत्कुमारादिकोंको भी केवल वेदान्तके पूर्ण विचार द्वारा ही ज्ञान होता है और वामदेव, वाल्मीकादिको अनन्त जन्मोंके पुण्योदय होनेसे ज्ञान होता है। अन्य जीवोंको साधन चतुष्टय संयुक्त गुरू उपदेश द्वारा श्रवणादि करके आत्म ज्ञान होता है।

आत्मासे भिन्न सम्पूर्ण जढ़ जगत मिथ्या है, अतः जड़ जगत श्रुति प्रमाणका विषय नहीं है। और आत्मा स्वप्रकाश है, अतः आत्मा भी श्रुति प्रमाणका विषय नहीं है।

श्रुति प्रमाण जन्य अन्तःकरणकी वृत्ति रूप ज्ञान करके केवल आत्माका आवरण दूर होता है। अतः आत्माको श्रुति प्रमाणका विषय कहा गया है।

जगतके हर एक पदार्थोंमें पांच अंश हैं अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम। इनमेंसे आदिके तीन अंश ब्रह्म रूप हैं और अन्तके दो अंश जगत रूप हैं।

कल्पित वस्तुका जो अभाव है, सो अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता है; किन्तु अधिष्ठान रूप ही होता है।

आत्म ज्ञान होने पर हृदयकी अज्ञान रूपी ग्रन्थि, सम्पूर्ण संशय और सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध भोग रह जाता है, सो भी अन्तःकरणका धर्म होनेसे नष्ट ही है।

जिस लक्षक पदार्थका अभावता उस लक्षक पदार्थके अभावका प्रयोजक नहीं हो, उस लक्षक पदार्थको तटस्थ लक्षण कहते हैं। जैसे देवदत्तके मकानमें विचित्र शब्दोंको करने वाले शुक सारिका पक्षी हैं, यहां शुक सारिका मकानके लक्षक हैं।

जिस लक्षक पदार्थका अभाव उस लक्ष्य पदार्थके अभावका प्रयो-

ज्ञक हो, उस लक्षक पदार्थको स्वरूप लक्षण कहते हैं। जैसे मकानके स्थूलता ईंट इत्यादिके नाश हो जानेसे मकानका स्वरूपतः नाश हो जायगा।

"सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म" सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है। यह तत्पद ईश्वरका बोधक वाक्य है।

"य एष हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" जो यह हृदयके भीतर ज्योति है, सो पुरुष है। यह त्वं पद (जीव) का बोधक वाक्य है।

"तत्वमसि" वह तू है। यह तत्पद और त्वं पदके एकताका बोधक वाक्य है।

अज्ञान अविद्या, प्रकृति, माया और शक्ति ये नाम एक ही पदार्थके हैं।

आवरण, विक्षेप शक्ति वाला अनादि भाव रूप अज्ञान है। विद्यासे नाश होनेसे अविद्या, प्रपंचका उपादन कारण होनेसे प्रकृति, अघटितको भी घटित करनेसे माया और स्वतन्त्रताके अभावसे शक्ति कहते हैं।

माया न तो चेतनसे भिन्न है, न अभिन्न है। यदि भिन्न कहें तो "सर्वं खल्विदंब्रह्म" इस श्रुतिसे विरोध होता है। और जो अभिन्न कहें तो माया तो जड़ है, तब कैसे चेतनसे अभिन्न हो सकती है? अतः माया अनिर्वचनीय हैं।

मायाको न तो सत्य कह सकते न असत्य। यदि सत्य कहें तो अद्वैत श्रुतिसे विरोध होगा। क्योंकि श्रुतिने एक अद्वैत ब्रह्मसे पृथक किसी दूसरे पदार्थको वर्णन नहीं किया है। यदि असत्य कहें, तो जड़ मायासे जगतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि असत्य नाम अभावका है, अभावसे भाव नहीं हो सकता। अतः माया अनिर्बचनीय हैं।

मायाको न तो सावयव कह सकते, न निरवयव। यदि सावयव कहें, तो सावयव पदार्थका कारण अवश्य होता है, तो मायाका भी कारण होना चाहिये। जो मायका कारण होगा, उसका भी कारण होना चाहिये। इस प्रकार अनवस्था दोषकी उत्पत्ति हो जायगी। यदि

अवयव रहित कहें, तो निरवयव मायासे सावयव जगतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः माया अनिर्वचनीय है।

यदि मायाको चेतनसे भिन्न भिन्न, सत्यासत्य, अवयव निरवयव इत्यादि कहें, परस्पर विरोधी दो धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं? अर्थात् नहीं रह सकते हैं। अतः माया अनिर्वचनीय है। जिसका निर्वचन न हो सके अर्थात् कथन न हो सके कि कैसा है, उसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

प्रश्न ?—माया किसके आश्रय है ?

उत्तर—शुद्ध चेतनके।

प्रश्न ?—क्या मायाको तम और चेतन प्रकाश कह सकते हैं ?

उत्तर—हां कह सकते हैं।

प्रश्न ?—तब तो लौकिक तमको भी सूर्यके आश्रय कह सकते हैं न ?

उत्तर— नहीं।

प्रश्न ?—तो प्रकाश स्वरूप चेतनको तम स्वरूप मायाका आश्रय कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—हे भेद वादिन! क्या तुम ईश्वरको जगत, प्रकृति और रात्रिमें व्यापक मानते हो ?

उत्तर—हां मानते हैं।

प्रश्न—जगत, प्रकृति और रात्रि, ये तीनों जड़ होनेसे तम रूप हैं, तो तुम्हीं बताओ कि प्रकाश स्वरूप ईश्वर तममें कैसे व्यापक हैं ?

उत्तर—यदि हम ईश्वरको इनमें व्यापक नहीं मानें, किन्तु संकल्प द्वारा इनका कर्ता ही मानें, तो क्या क्षति है ?

उत्तर—प्रथम तो तुम मिथ्यावादी हुए, क्योंकि पहले ईश्वरको इनमें व्यापक कह आये हो, दूसरे ईश्वरको व्यापक न माननेसे अवच्छिन्न हो जायेगा और श्रुति ईश्वरको निरावच्छिन्न कहती है। तीसरे जब ईश्वरको प्रकाश स्वरूप शुद्ध चेतन मानते हो, तो उसमें संकल्प (इच्छा) होनेसे अशुद्ध हो जायगा, तब अवच्छिन्न तथा

इच्छा वाला होनेसे जीवकी तरह एक देशी तथा अल्पज्ञ हो जायेग, अब यह तो कहो कि तुम जीवको जड़ मानते हो अथवा चेतन ?

उत्तर—मैं जीवको चेतन मानता हूं।

प्रश्न ?—चेतन तो प्रकाश स्वरूप होता है न ?

उत्तर—हां होता है।

प्रश्न ?—तो यह बताओ कि जीवको इस ब्रह्मांडके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान है ?

उत्तर—सम्पूर्ण पदार्थोंका तो ज्ञान नहीं है, किन्तु एकाध ही पदार्थोंका है।

प्रश्न ?—जब कि सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञानमें जीव अज्ञानी है, तब तो प्रकाश स्वरूप चेतन जीवके आश्रय तम स्वरूप जड़ अज्ञान है न ?

उत्तर—हां है, परन्तु लौकिक तमकी तरह नहीं है।

प्रश्न ?—तो मायाको भी लौकिक, तमसे विलक्षण ही चेतनके आश्रय माननेमें तुम्हारी क्या क्षति है ?

उत्तर—जीव तो अशुद्ध है, अतः इसके आश्रय अज्ञान है और तुम तो शुद्ध चेतनके आश्रय मायाको कह आये हो।

प्रश्न ?—अच्छा; यह तो बताओ कि तुम्हारा जीवात्मा किसके सम्बन्धसे अशुद्ध हो गया ? क्योंकि तुम पहले आत्माको चेतन कह आये हो, तो चेतन स्वयं शुद्ध है, अतः किसी सम्बन्धसे अशुद्ध मानना पड़ेगा। जैसे शुद्ध जल मल करके अशुद्ध हो जाता है। फिर सवयव पदार्थोंका ही सम्बन्ध होता है, तो निरवयव आत्मामें सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? कार्य कारणका समवाय सम्बन्ध होता है, सो चेतन किसी भी जड़ कार्यका उपादान कारण नहीं है और जड़ चेतनका सम्बन्ध भी कहीं नहीं माना है, तब तुम्हारा आत्मा कैसे अशुद्ध हो गया ?

उत्तर—कर्मोंके संस्कार इसमें रहते हैं, इसीसे अशुद्ध हो गया है।

प्रश्न—बिना शरीरके तो कर्म हो ही नहीं सकते, और जड़ शरीरसे चेतन आत्मा अत्यंन्त भिन्न है, तो बताओ कि दूसरे कियेकें हुए कर्म

दूसरेको कैसे लग सकते हैं ? क्या देवदत्तके किये हुए कर्म यज्ञ दत्तको लग सकते हैं ?

उत्तर—शरीरसे आत्माका सम्बन्ध होनेसे शरीरके किये हुए कर्म आत्मामें चले जाते हैं।

प्रश्न ?—जब कि पहले यह हो चुका है कि सावयवके साथ निरवयवका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब सम्बन्ध कैसे मानते हो ?

उत्तर—हम कल्पित सम्बन्ध मानते हैं। हे वादिन्! जब तुम शरीरके कर्मोंको आत्माके साथ कल्पित सम्बन्ध मानते हो, तो अज्ञानको भी आत्माके साथ कल्पित सम्बन्ध मानना पड़ेगा। वैसे ही मायाका भी शुद्ध चेतनके साथ कल्पित सम्बन्ध है।

हे सिद्धान्ती! आत्मा अशुद्ध नहीं है, किन्तु भ्रान्तिसे अशुद्ध भासता है। हे वादिन्! उसी भ्रान्तिको हम अज्ञान मानते हैं, फिर यह तो बताओ कि शुद्धको भ्रांति कैसे हो गयी ?

उत्तर—यह भ्रांति अनादि है, कुछ कही नहीं जाती। हे वादिन! उसी अनादि भ्रान्तिको अज्ञान क्यों नहीं मान लेते हो ? और जो कहते हो कि कुछ कही नहीं जाती, उसीको अनिर्वचनीय कहते हैं। अतः अब यह सिद्ध हो गया कि अनादि अनिर्वचनीय अज्ञान आत्माके आश्रय है। जैसे तम स्वरूप अज्ञानको प्रकाश स्वरूप आत्मा नष्ट नहीं कर सकता; किन्तु उसका साधक है। वैसे ही अनादि अनिर्वचनीय मायाका बाधक शुद्ध चेतन नहीं है, उलटा साधक है अर्थात् आश्रय दिया है। क्योंकि सम सत्ता वाले ही पदार्थ सम सत्ता वाले पदार्थोंके विरोधी हैं, विषम सत्ता वाले तो साधक है। अतः वृत्तिमें आरूढ़ चेतन ही अज्ञानको नष्ट कर सकता है।

घटादिक अनात्माकार वृत्तिसे घटादिक अवछिन्न चेतनस्थ अज्ञानकी निवृत्ति होती है और अखण्ड ब्रह्माकार वृत्तिसे निरावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञानकी निवृत्ति होती है।

शुद्ध चेतन, ईश्वर चेतन, जीव चेतन, अविद्या, अविद्या चेतनाका परस्पर सम्बन्ध और इन पांचोंका परस्पर भेद, ये छः पदार्थ उत्पत्ति शून्य होनेसे अनादि हैं।

अन्तःकरणमें जो आभास जीव है, सो विज्ञान मय कोश है और जो बुद्धि वासना विशिष्ट अज्ञानमें अभास है, सो आनन्दमय कोश है।

अवच्छेद वादका कथन है कि अविद्यावच्छिन्न चेतन जीव है और मायावच्छिन्न चेतन ईश्वर है।

आभास वादका कथन है कि शुद्ध सतोगुण प्रधान मायामें जो चेतनका प्रतिबिम्ब, सो ईश्वर हैं और मलिनसतोगुणप्रधान अविद्यामें जो चेतनका प्रतिबिम्ब, सो जीव है।

विचार करके देखिये तो माया और अविद्याके सम्बन्धसे चेतनमें अवच्छिन्नता तथा प्रतिविम्वता होना असंभव है। क्योंकि अविद्यादिकको शास्त्र कल्पित माना है। जैसे मृग तृष्णाके जलसे भरा हुआ वंध्यासुत कुलाल करके शशा शृङ्गके दण्डसे रचित घटके सम्बन्धसे आकाशमें आभास तथा अवच्छिन्नता असम्भव है। किन्तु व्यावहारिक दंड, मृतिकादि सामग्रियों करके रचित व्यावहारिक जलसे भरा हुआ घटमें ही व्यावहारिक आकाशका प्रतिविम्वता एवं अवच्छिनता होना संभव है।

ब्रह्मकी सत्तासे सत्ता वाले जो अविद्यादि हैं वे आकाशके पुष्पकी तरह अत्यन्त मिथ्या हैं, उनके सम्बन्धसे ब्रह्ममें अवच्छिन्नता तथा प्रतिबिम्बता कैसे हो सकता है? किन्तु कल्पित अज्ञानके कल्पित सम्बन्धसे ब्रह्ममें जीवत्व है।

जैसे कुन्ती पुत्र कर्ण हीन जाति "राधा" के सङ्गसे अपनेको हीन मानता हुआ तिरस्कार जन्य दुखका अनुभव करता था। जब सूर्य भगवानने उससे कहा कि "तूं राधाका पुत्र नहीं है, किन्तु मेरे सम्बन्धसे कुन्तीके उदरसे पैदा हुआ है," तब कर्णने भ्रमको त्याग कर परम प्रसन्न हुआ। वैसे ही गुरूके मुखारविन्दसे "तत्वमसि" आदि महा वाक्योंके श्रवण द्वारा आत्माका (अपना) अपरोक्ष ज्ञान होकर जीवत्व भाव छूट जाता है, तब अपनेको नित्य मुक्त जान कर प्राणी परमानन्दको प्राप्त होता हैं।

जैसे स्वप्नावस्थामें कोई दरिद्र पुरुष किसी राजाकी सेवा द्वारा निधिको पाकर प्रसन्न होता है। वैसे ही कल्पित जीव कल्पित ईश्वरकी

कल्पित सेवा करके कल्पित मनोवांछित फलको पाकर प्रसन्न होता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, दया, कोमलता, क्षमा, धीरता, मिताहार और शौच ये दश यम हैं।

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धांत श्रवण, लज्जा, मति, जप और व्रत ये दश नियम हैं।

सिद्धासन, पद्मासन, वद्ध पद्मासन इत्यादि आसन हैं।

पूरक, कुम्भक, रेचक अर्थात् श्वांसोंको वाम नासिका द्वारा धीरे-धीरे खींचना, उस खींचे हुए वायुको यथा शक्ति उदरमें रोकना और उस रुके हुए वायुको दाहिने नासिकासे धीरे-धीरे छोड़ना प्राणायाम कहलाता है।

इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना प्रत्याहार कहलाता है।

अन्तःकरणकी स्थिरताको धारणा कहते हैं।

अद्वितीय ब्रह्ममें अभेद भावसे वारम्वार वृत्तिको लगाना ध्यान कहलाता है।

समाधि दो प्रकारकी होती है, पहली सविकल्प समाधि और दूसरी निर्विकल्प समाधि है। उनमें सविकल्प समाधि "शब्दानुविद्ध एवं शब्दाननुविद्ध" के भेदसे दो प्रकारकी है। "अहं ब्रह्मास्मि" यह शब्द उच्चारण करके जो समाधि होती है, उसे "शब्दानुविद्ध" कहते हैं और जो विना शब्दकी होती है उसे "शब्दाननुविद्ध कहते हैं। वैसे ही "अद्वैत भावना और अद्वैतावस्थान" के भेदसे निर्विकल्प समाधि भी दो प्रकार की है। ज्ञान सहित अन्तःकरणकी ब्रह्माकार वृत्तिको "अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प समाधि" कहते हैं और जब इस समाधि के विशेष अभ्याससे वृत्ति शाँत हो जाती है, तब उस वृत्ति रहित अवस्थाको "अद्वैतावस्थान रूप निर्विकल्प समाधि" कहते हैं। अद्वैतावस्थान समाधिमें वृत्ति आत्म प्रकाशमें लय होती है और सुषुप्तिमें वृत्ति अज्ञानमें लय होती है। निर्विकल्प समाधिमें अंतःकरणकी वृत्ति ब्रह्माकार होती है। और सुषुप्तिमें नहीं होती है। सुषुप्तिका आनन्द अज्ञानसे ढका

रहता है और समाधिमें निरावरण ब्रह्मानन्दका भान होता है। सुषुप्तिमें वृत्ति सहित अन्तःकरणका अभाव होता है और निर्विकल्प समाधिमें वृत्ति सहित अन्तःकरण तो रहता है, केवल भान नहीं होता है। त्रिपुटी ज्ञानके सहित अद्वितीय ब्रह्ममें अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थितिको सविकल्प समाधि कहते हैं। त्रिपुटी भान रहित जब अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति हो जाती है; तो उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। वृत्तिके अन्तर्मुख होने पर भी जब तक वृत्ति ब्रह्माकार न हो जावे, तब तक योगी बाह्य पदार्थोंमें बारम्बार दोष भावना करता हुआ वृत्तिको बहिर्मुख न होने दे। जब तक अन्तःकरण है, तब तक अनेक जन्मोंके किये हुए संस्कार रहते हैं, वे रागादि समाधिके विरोधी नहीं है। जो राग-द्वेष प्रगट हो जाते हैं, वे ही समाधिके विरोधी हैं, अतः योगी विषयोंमें दोष-दृष्टि करके उन्हें रोके।

लोक वासना, देह वासना, शास्त्र वासना आदि जो अनात्म पदार्थोंकी वासना है, सो रजोगुणका परिणाम है। निद्रा, आलस्य अहंकार आदि तमोगुणके परिणाम हैं। विक्षेप कीनिवृत्तिके लिए जो यत्न है, उसे शम कहते हैं।

व्याख्यान दाताका व्याख्याका, किसी लेखकका किसी पुस्तकका एवं शास्त्रोंके तात्पर्यका भी निर्णय सात लिंगोंसे होता है। यथा—उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य निर्णयम्॥ (उपक्रम) आरम्भ (उपसंहार) समाप्ति (अभ्यास) बार-बार आवृत्ति (अपूर्वता) दूसरे प्रमाणसे समझमें न आना (फल) फल (अर्थवाद) स्तुति या निन्दा वाचक वाक्य और (उपपत्ति) युक्ति ये सात लिंग तात्पर्यके निर्णय करनेमें हेतु हैं। इस नियमसे ब्रह्म सिद्ध होता है। क्योंकि सृष्टिके आरम्भ (आदि) समाप्ति (अन्त) में एक ब्रह्म ही रहता है अथवा शास्त्र उसी ब्रह्मको प्रतिपादन करनेके लिए प्रारम्भ होते हैं और ब्रह्मको ही प्रतिपादन करते हुए समाप्त होते हैं। शास्त्रोंमें ब्रह्मकी ही आवृत्ति बार-बार पाई जाती है। जैसे छान्दोग्योपनिषदमें श्वेत केतुके प्रति उसके पिता सात बार 'तत्वमसि' इस अद्वैत महा वाक्यका कथन किये हैं। उस ब्रह्मके समान दूसरा नहिं

कि प्रमाण दिया जाय, इस लिये वह अपूर्व है। सम्पूर्ण साधनोंका फल एक ब्रह्म ही है। श्रुतियां वार-वार उस ब्रह्मकी ही स्तुति करती हैं। और युक्ति करके भी वह ब्रह्म सिद्ध है। जिस वस्तुका जन्म होता है, उसीका सत्ता, (प्रगटता) वृद्धि, परिणाम, अपक्षय (घटना) और नाश रूप पांच विकार होते हैं। श्रुति अर्थके निश्चयके अनुकूल प्रमेयके संशय निवर्त्तक युक्ति चिंतनको मनन कहते हैं। अद्वैत प्रतिपादक शास्त्रको युक्ति युक्त गुरु मुखसे सुननेको श्रवण कहते हैं। मनन किये हुए प्रमेयमें चित्त वृत्तिके प्रवाहको वारम्वार लगानेको निदिध्यासन कहते हैं। निदिध्यासनका परिणाम ही समाधि है। जिसको एक श्लोकसे अथवा आधा श्लोकके विचारसे आत्म ज्ञान हो जाता है, उसका प्रयोजन नष्ट हो जाता है। निष्काम कर्मके द्वारा तमोगुण जीता जाता है, उपासना द्वारा रजोगुण और ज्ञान द्वारा सतोगुणको जीत कर त्रिगुणातीत हुआ जाता है।

प्रमाण छः हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। साक्षात् नेत्रके विषयको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। जैसे किसीने कहा वह्निं पश्यामि। अग्निको देखता हूं। प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा जिसका अनुमान हो, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे पर्वतं धूमेन वह्नि मनुमिनोमि। पर्वत पर धूम करके अग्निका अनुमान करता हूं। किसी विश्वस्त पुरुषके शब्दको श्रवण करके ज्ञान हो, तो उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। जैसे किसीने कहा पुत्रस्ते जातः। तुम्हारा पुत्र हुआ है। सुनी हुई वस्तुके सदृश वस्तुको अकस्मात् देखकर उस सुनी हुई वस्तुको स्मरण करके दृष्ट वस्तुके ज्ञानको उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे किसीके मुखसे श्रवण किये हैं कि गो सदृशः गवय। गो के सदृश गवय होता है। कभी अकस्मात् वनमें गवय दीख पड़ा, वस, तुरन्त पूर्व सुने हुए वाक्यका स्मरण आ गया (क्योंकि सुने हुए पदार्थका संस्कार अन्तःकरणमें बना है) और निश्चय कर लिये कि यह गो सदृश गवय है। अर्थापत्ति प्रमाण दो प्रकारका है। एक दृष्टार्थपत्ति दूसरा श्रुतार्थपत्ति। जो देख करके अर्थकी प्राप्ति हो, उसे दृष्टार्थपत्ति

कहते हैं। जैसे स्थौल्येन रात्रि भोजनमनुमिनोमि। स्थूलता करके रात्रिके भोजनका अनुमान करता हूं। क्योंकि विना रात्रि भोजनके दिन में शरीरका स्थूल रहना असंभव है। जो सुन करके अर्थकी प्राप्ति हो उसे श्रुतार्थपत्ति कहते हैं। जैसे गृहेऽसत् देवदत्तो जीवति। घरमें असत्य देवदत्त जीता है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि कहीं पर सत्य देवदत्त है। अनुपलब्धि कहते हैं अभाव (अप्राप्त) को, सो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव, सामयिकाभाव और अन्योन्याभाव करके पांच प्रकारका है। कपाले घटोनास्ति, किन्तु कपाले घटोभविष्यति। कपालमें घट नहीं है, किन्तु कपालमें घट होगा। इसको प्रागभाव कहते हैं। घटका प्रागभाव कपालमें है। इसलिये कपालमेंसे घट होगा। घटोध्वस्तः। घट नाश हो गया। यह प्रध्वंसाभाव कपालमें है। वायौ रूपं नास्ति। वायुमें रूप नहीं है। यह अत्यंताभाव है। रूप का अत्यंताभाव वायुमें हैं। इदानीं काले घटोनास्ति। इस समयमें घट नहीं है। यह सामायिकाभाव है। वर्तमान कालमें घटका अभाव हैं। घटः पटो न। घट पट नहीं है। यह अन्योनाभाव है। जब घट पट नहीं हैं; तो पट भी घट नहीं है। इस रीतिसे घटमें पटके अभाव होनेसे और पटमें घटके अभाव होनेसे अन्योनाभाव है।

षट् प्रमाणके विषयमें शास्त्रोंका बड़ा मतभेद है विस्तारके भयसे नहीं लिखता हूं। षट् प्रमाणका मुख्य मतलब किसी पदार्थको प्रमाणित करने का है, सो एक ब्रह्म (शुद्ध चेतन) के अतिरिक्त कोई पदार्थ प्रमाणित नहीं हो सकता, सो भी प्रमाण जन्य ज्ञान विशिष्ट अन्तःकरणकी वृत्ति केवल चेतनका आभरण दूर करती है। अतः चेतनको प्रमाणित (प्रमाणका विषय) कहा गया।

महा वाक्य

जीवो ब्रह्मा भिन्नः। ब्रह्मसे जीव अभिन्न है। चेतनत्वात्। चेतन होनेसे। यत्र यत्र चेतनत्वं तत्र तत्र ब्रह्माभेदः। जहां-जहां चेतनत्व है, वहां-वहां ब्रह्मसे अभेद है।;यथा ब्रह्मणि। जैसे ब्रह्ममें। इन महा वाक्यमें पहला पक्ष है, दूसरा साध्य है, तीसरा हेतु हैं और अंतवाला दृष्टांत है।

महा वाक्य

व्यवहारिकः प्रपंचो मिथ्या। व्यावहारिक प्रपञ्च (जगत) मिथ्या है। ज्ञाननिवर्त्यत्वात्। ज्ञानसे निवृत्त होनेसे यत्र यत्र ज्ञान निवर्त्यत्वम् तत्र तत्र मिथ्यात्वम्। जहां-जहाँ ज्ञानसे निवृत्ति है, वहां-वहां मिथ्यात्व है। यथा शुक्ति रजतादौ। जैसे शुक्ति रजतादि। इन महा वाक्योंमें भी पहला वाक्य पक्ष है, दूसरा साध्य है, तीसरा हेतु हैं और अंतका दृष्टांत है। भोजानांतेऽस्मसानांते मैथुनांते च या मतिः। सा मति चेत् सर्वदा स्यात् नरो नारायणो भवेत्॥ भोजनके अन्तमें, ऽस्मसानके अन्तमें और मैथुनके अन्तमें जो बुद्धि होती हैं, वह बुद्धि यदि सर्वदा रहे, तो नर नारायण हो जाय। भोजनके अन्तमें (पेट भर जाने पर) अन्नसे वैराग्य हो जाता है, मृतक जलाने पर अपने शरीरसे वैराग्य हो जाता है कि यह शरीर अनित्य है, इसकी भी एक दिन यही दशा होगी और मैथुनके अन्तमें स्त्रीसे भी घृणा हो जाती है। परन्तु पूर्वोक्त वैराग्य देर तक रहते नहीं हैं, अतः ये अधम वैराग्य हैं। स्त्री, पुत्रादिके मर जाने पर अथवा धनके नाश हो जाने पर केवल परिवारसे चित्त उपराम हो जाता है, उसे मन्द वैराग्य कहते हैं। और ऐहिक एवं पारलौकिक सुखको अनित्य तथा दुःखद समझ कर मनसे ब्रह्माण्ड भरके पदार्थों को त्यागा जाता है, उसे दृढ़ वैराग्य कहते हैं। दृढ़ वैराग्य वालेका सन्यासमें अधिकार है। अधम और मन्दवालोंका कर्म एवं उपासनामें अधिकार है। अन्यथा करनेसे पतित होना पड़ता है।

ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य इनको विना आश्रमके क्षण मात्र भी नहीं रहना चाहिये। नहीं तो प्रायश्चितके योग्य होना पड़ता है। सन्यास आश्रमका कोई नियम नहीं है, ब्रह्मचर्याश्रममें हो, अथवा गृहस्थाश्रममें हो, अथवा वानप्रस्थाश्रममें हो, जब ही दृढ़ वैराग्य हो, तब ही सन्यास लेले। परन्तु विना ब्रह्मचर्याश्रमके गृहस्थाश्रममें अधिकार नहीं है और गृहस्थाश्रमके विना वानप्रस्थाश्रममें अधिकार नहीं है।

ज्ञानी पुरुषके व्यवहारका हेतु प्रारब्ध है, अतः ज्ञानी कर्मोंसे सदा असंग है। यद्यपि ज्ञानीके व्यवहारका कोई नियम नहीं रहता। जैसे

राजा जनक जीवन पर्यन्त प्रवृत्ति मार्ग (गृहस्थाश्रम) में ही रहे, याज्ञवल्क्य मुनि गृहस्थाश्रमके बाद सन्यास ले लिये, राजा शिखरध्वज त्यागके बाद फिर गृहस्थाश्रममें आकर जीवन व्यतीत किये और शुकदेव, सनकादि प्रभृति जीवन पर्यन्त निवृत्ति मार्गमें ही विचरे। ये सब ज्ञानी पुरुष आत्म ज्ञानके बलसे मुक्त ही रहे अर्थात् मोक्षमें कोई बाधा नहीं पड़ी। तथापि जीवन मुक्तिके आनन्दकी प्राप्तिके लिये त्याग (निवृत्तिमार्ग) ही श्रेष्ठ है। क्योंकि यह अनुभव सिद्ध है कि जितना हीं व्यवहार अधिक है, उतना हीं अन्तःकरणको सुख कम है और जितना हीं व्यवहार कम है, उतना हीं अन्तःकरणको सुख अधिक है।

अहं (मैं) मम (मेरे) के स्वरूप

जब प्राणी कहता है कि मैं दुखी हूं, मैं सुखी हूं, तो अपनेको मन मान लेता है। क्योंकि सुख-दुखादि मन (अन्तःकरण) के ही धर्म हैं यथा— कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः भीः ह्रीरित्येत्सर्वं मन एवेतिश्रुतेः। कामका संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धीरता, अधीरता, भय और लज्जा, ये सब ही मनके धर्म हैं। जब प्राणी कहता है कि मुझे भूख लगी है, मुझे प्यास लगी है, तो अपनेको प्राण मान लेता है। क्योंकि क्षुधा—पिपासा प्राणके ही धर्म हैं। जब प्राणी कहता है कि मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं चलता हूं, मैं बोलता हूं इत्यादि, तो अपनेको इन्द्रियां मान लेता है। क्योंकि ये धर्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके हैं। जब प्राणी कहता है कि मैं श्याम वर्णका हूं, मैं गौर वर्णका हूं, अथवा मैं मोटा हूं, मैं दुर्वल हूं, तो अपनेको स्थूल शरीर मान लेता है। न तो मन प्राण हो सकता, न मन इन्द्रिय हो सकता, न इन्द्रियां स्थूल शरीर हो सकतीं अर्थात् एक पदार्थ दूसरा पदार्थ नहीं हो सकता। परन्तु बड़ी आश्चर्यकी बात है कि प्राणी प्राण, मन, इन्द्रिय, स्थूल शरीर, इत्यादिकोंके धर्मोंको अपने ऊपर आरोपण करके अपने हीं को मान लेता है कि ये सब मैं हीं हूं। यही मैं (अहं) कास्वरूप है। फिर अपनेको इन सबसे पृथक बतलाता है। जैसे कहता

है कि हाय! मेरा प्राण निकला चाहता है. मेरा मन यह बात कहता है, मेरे नेत्रोंसे दिखाई नहीं देता है मेरे श्रोत्र नहीं सुनते हैं, ये मेरे हाथ हैं, ये मेरे पैर हैं, यह मेरा शरीर है, इत्यादि। यही मेरा (मम) का स्वरूप है। पहले जिनको अपना स्वरूप बतलाया था, उन्हींको अब अपनेसे पृथक बतलाने लगा। क्योंकि अपनेसे पृथक पदार्थोंके ही प्रति मेरा का प्रयोग होता हैं। अतः हे प्राणी! तुम मिथ्यावादी हुए, क्योंकि जिनके प्रति तुम अहं का प्रयोग किये थे, उन्हींके प्रति तुम मम का प्रयोग करने लगे। इससे सिद्ध हो गया कि तुम शरीरादिकों से विलक्षण हो।

प्राणी जब जागृत अवस्थामें रहता हैं, तब इस स्थूल शरीरको जानता है कि यही मैं हूं, इस शरीरसे अनेक प्रकारके दुःख-सुखका अनुभव करता है तथा चिरकालका हुआ इस स्थूलको समझता है। जब स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, तो स्वप्न जन्य शरीरको समझता है कि यही मैं हूं। उस शरीरको चिर कालका उत्पन्न हुआ समझता है और वहां पर उसी शरीरसे दुख-सुख भोगता है। इससे सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जागृत-स्वप्न इन दोनों अवस्थासे विलक्षण है। क्योंकि एक अवस्थामें दूसरे शरीरका अभाव है, परन्तु आत्माको दोनों शरीरोंका स्मरण है।

युवा अवस्थामें बाल्यावस्थाका शरीर नहीं रहता और वृद्धावस्थामें युवावस्था तथा बाल्यावस्थाके शरीर नहीं रहते हैं. तो भी प्राणी कहता है कि जो मैं बाल्यावस्थामें माता-पिताको देखता था तथा युवावस्थामें स्त्रीको देखता था, वहा मैं वृद्धावस्थामे पोतेको देखता हूं और बाल, युवाके किये हुए कर्मोंको भी मैं स्मरण करता हूं। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा शरीरसे भिन्न है। पैदा होते हा बच्चे क्षुधातुर हो माताके स्तनको ढूंढने लगता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा शरीरसे भिन्न है। क्योंकि पूर्व जन्मके जिस शरीरने स्तन पान भोजन किया था, वह तो नहीं है, पैदा होते ही किसीने खान-पानको अभ्यास भी नहीं लगाया तब किसको स्मरण रहता है? उसी आत्माको जिसने पूर्व जन्मके शरीरमें भी रहा था।

जैसे रक्त पुष्पकी समीपतासे स्वच्छ स्फटिक पत्थरमें अज्ञानीको रक्तताकी प्रतीति होती है कि इस स्फटिकमें ही रक्तता है। परन्तु जब किसी विश्वस्त पुरुषके वाक्यसे जान जाता है कि इसमें रक्तता नहीं है। किन्तु रक्त पुष्पके सन्निधिसे रक्तताकी प्रतीति होती है, तब उसे स्फटिकमेंकी रक्तता मिथ्या प्रतीत होने लगती है। परन्तु जब तक स्फटिकके समीपमें पुष्प है, तब तक प्रतीतिका नाश नहीं होता; किन्तु पुष्पके नाश ही से प्रतीतिका नाश होता है। वैसे ही अज्ञानी पुरुषको माया करके ब्रह्ममें जगत (प्रपंच) की प्रतीति है। परन्तु जब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके मुखसे शास्त्रोंकी युक्तियोंको तथा दृष्टांतोंको श्रवण पूर्वक माया (अज्ञान) का नाश हो जाता है, तब वह पुरुष ब्रह्ममें जगतका अत्यन्ताभाव मानने लगता है। परन्तु प्रारब्धकी प्रबलतासे अथवा प्रारब्ध भोगके लिये मिथ्या रूपसे प्रतीति अवश्य रहती है। क्योंकि यद्यपि ज्ञानीके संचित और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं, तथापि ज्ञानीको अन्तःकरणके प्रारब्ध कर्मोंको भोग कर ही नष्ट करना पड़ता है। जब तक जगतके पदार्थोंकी प्रतीति नहीं होगी, तब तक वे पदार्थ अनुकूल एवं प्रतिकूल नहीं भासेंगे। जब तक पदार्थ अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रतीत नहीं होंगे, तब तक सुख-दुख नहीं होंगे। क्योंकि अनुकूल पदार्थ सुख प्रद और प्रतिकूल पदार्थ दुख प्रद होते हैं। और सुख-दुखके भोगे विना प्रारब्ध कर्मोंका नाश नहीं होता है। क्योंकि पूर्व जन्मके पुण्यका फल सुख है और पापका फल दुःख है। जैसे रक्त वर्ण रहित स्फटिकका ज्ञान हो जाने पर भी पुष्पकी समीपतासे मिथ्या रूपसे रक्तता प्रतीत होती है, वैसे ही प्रपंच रहित एक अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्धकी प्रतिबन्धकतासे मिथ्या रूपसे जगत प्रतीत होता रहता है। जीवन मुक्त पुरुष प्रारब्ध एवं शरीरान्तकी प्रतिक्षा करता हुआ आनन्द पूर्वक विचरा करता है और शरीरान्त होने पर विदेह मुक्त हो जाता है।

ज्ञानी पुरुषके प्राण किसी लोकको गमन नहीं करते हैं, किन्तु उसी स्थानमें अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें सान्त हो जाते हैं। विवेकी

पुरुषको यह शरीर तभी तक प्रिय रहता है, जब तक इस शरीरसे साधन करके अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं रहती है। जब साधन द्वारा स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् कार्य (प्रयोजन) हो जाता है, तब यह शरीर भार सा प्रतीत होने लगता है। क्योंकि इस शरीरसे कुछ मतलब नहीं रह जाता, केवल वस्त्र पहिनाना, मल-मूत्र धोना, स्नान कराना, आदि सेवा ही करने पड़ते हैं।

जैसे पागल मनुष्यके व्यवहार पूर्वाभ्यासानुसार ही हुए करते हैं अर्थात् जिसकी प्रकृति गाली देनेकी, जीवोंको कष्ट देनेकी, हिंसा करनेकी इत्यादि पड़ी रहती है, वह प्रमादी हो जाने पर भी जीवोंको गाली, कष्ट इत्यादि दिया करता है और शुद्धाचरणी पुरुषका व्यवहार भ्रान्त होने पर भी क्रूरता पूर्वक नहीं होता है, यद्यपि उसे अपने आचरणका यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है। वैसे ही ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञानी पुरुषके व्यवहार शुद्ध शास्त्रानुसार ही होते हैं, (यद्यपि व्यवहारसे कुछ मतलब नहीं रहता है) क्योंकि साधन अवस्थामें वह निष्काम कर्म, उपासना, श्रवणादि (शास्त्र विचारादि) किया है। वे ही संस्कार अब भी नहीं छूटते हैं। जैसे ईश्वरके सृष्टि आदि कार्य अपने लिये नहीं होते हैं, किन्तु प्राणियोंके भोगके लिये होते हैं। वैसे ही ज्ञानी पुरुषके भी कार्य अपने लिये नहीं होते हैं, किन्तु अन्तःकरणके भोगके लिये होते हैं।

जैसे ईश्वरका हिरण्यगर्भ रूपी मन हीं व्यावहारिक सत्ता जो विराट रूप स्थूल प्रपंच है, उसको उत्पन्न करता है। वैसे ही जीवका मन हीं प्रतिभासिक सत्ता जो स्वप्न सृष्टि है, उसे उत्पन्न करता है। जैसे देश, कालादि सामग्रीके विना परमार्थिक सत्ता जो शुद्ध चेतन है, उसमें ईश्वर माया करके जगत रच देता है। वैसे ही कंठ है अस्थान जिसका ऐसी जो वालसे भी सूक्ष्म नाड़ी है, उसमें जीव भी अविद्या करके स्वप्न सृष्टि रच देता है। अन्तःकरण और ज्ञानके परिणामको वृत्ति कहते हैं। विषयके प्रकाशक होनेसे।

वृत्ति दो प्रकारकी होती है, एक प्रमा और दूसरी अप्रमा। प्रमाण जन्य ज्ञानको प्रमा कहते हैं, जो ब्रह्माकार होती है। यथार्थ और भ्रमके

भेदसे अप्रमा ज्ञान दो प्रकारका है। जैसे यह घट है, यह पट है, इस प्रकार व्यावहारिक पदार्थोंके ज्ञानको यथार्थ कहते हैं और, रज्जुमें सर्पका, मिश्रीमें कटुताका, इत्यादि जो ज्ञान है उसे भ्रम कहते हैं। क्योंकि दोष जन्य है। शरीरके अन्तर्गत जो चेतन है, वही स्वप्नके पदार्थोंका अधिष्ठान है और उस चेतनस्थ तो तूलाज्ञान है, वह उन पदार्थोंका उपादान कारण है। जीवको जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओंका ज्ञान वृत्तिके ही द्वारा होता है। इन तीन अवस्थाओंसे सम्बन्ध ही संसार है।

वृत्तिके कारण प्रमाण हैं; क्योंकि प्रमाणकी सिद्धिके लिये ही वृत्ति उत्पन्न होती हैं। जब वृत्ति अज्ञानाकार होती है अर्थात् अनात्म पदार्थोंका अभिमान करती है और ऐसा ज्ञान होता है कि यह मैं हूं, यह मेरा है, तो उसे बंध कहते हैं।

"अहं ब्रह्मस्मि" इस वृत्तिसे कार्य सहित अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। इसीको मोक्ष कहते हैं और वृत्तिका परम प्रयोजन यही है। संसार दशामें व्यवहारकी सिद्धिके लिये वृत्तिका गौड़ प्रयोजन है। शुभमित्यलम्॥ ॐ पूर्ण :मदः पूर्ण मिदं पूर्णात्पूर्ण मदुच्यते। पूर्णास्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवाव शिष्यते॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः

समाप्तोऽयंग्रन्थः